

Chapter पच्चीस

भक्तियोग की महिमा

शौनक उवाच

कपिलस्तत्त्वसङ्ख्याता भगवानात्ममायया ।

जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; कपिलः—भगवान् श्रीकपिल; तत्त्व—सत्य का; सङ्ख्याता—व्याख्याता; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; जातः—जन्म लिया; स्वयम्—स्वयं ही; अजः—अजन्मा; साक्षात्—प्रकट रूप में; आत्म-प्रज्ञप्तये—दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए; नृणाम्—मानव जाति के लिए।

श्री शौनक ने कहा : यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से कपिल मुनि के रूप में जन्म धारण किया। वे सम्पूर्ण मानव जाति के लाभार्थ दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए अवतरित हुए।

तात्पर्य : आत्म-प्रज्ञप्तये शब्द इस बात का सूचक है कि भगवान् मानव जाति के लाभार्थ दिव्य ज्ञान प्रदान करने के लिए अवतरित होते हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार इतनी भौतिक सुविधाएँ प्राप्य हैं कि अच्छी तरह जीवनयापन करके सतोगुण पद तक उठा जा सके। सतोगुणी होने पर मनुष्य का ज्ञान व्यापक होता है। रजोगुणी होने पर कोई ज्ञान नहीं हो पाता, क्योंकि रजस का अर्थ है भौतिक भोगों की वाञ्छा। तमोगुणी होने पर न तो ज्ञान होता है और न किसी प्रकार का सुख (भोग) ही होता है, क्योंकि यह जीवन पशुतुल्य बन जाता है।

वेदों का उद्देश्य मनुष्य को तमोगुण से सतोगुण पद की ओर ले जाना है। सतोगुण को प्राप्त मनुष्य ही आत्मज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान को समझ सकता है। सामान्य पुरुष इस ज्ञान को नहीं समझ पाता। चूँकि इसके लिए परम्परा आवश्यक है, फलतः यह ज्ञान या तो स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा या उनके प्रामाणिक भक्त द्वारा व्याख्यायित होता है। यहाँ पर शौनक मुनि यह भी कहते हैं कि श्रीभगवान् के अवतार कपिल ने दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए ही जन्म धारण किया। मात्र इतना ही जान लेना कि मैं पदार्थ नहीं, अपितु आत्मा हूँ (अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ) आत्मा तथा उसके कार्यकलापों को जान पाने के लिए पर्याप्त नहीं है।

मनुष्य को ब्रह्म के कार्यकलापों में स्थित होना चाहिए। इन कार्यकलापों का ज्ञान स्वयं श्रीभगवान् द्वारा व्याख्यायित होता है। ऐसे दिव्य ज्ञान को मानव समाज ही समझ सकता है, पशु-समाज नहीं, जैसाकि यहाँ पर *नृणाम्* “अर्थात् मनुष्यों के लिए” शब्द के द्वारा सूचित है। मनुष्य नियमित जीवन के लिए बना है। पशु-जीवन में भी स्वाभाविक नियमन है, किन्तु यह शास्त्रों में वर्णित या अधिकारियों द्वारा निर्दिष्ट नियमित जीवन के समान नहीं होता है। मानव जीवन ही नियमित जीवन है, पशु जीवन नियमित नहीं है। केवल नियमित जीवन में ही दिव्य ज्ञान को समझा जा सकता है।

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिष्णः सर्वयोगिनाम् ।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृष्यन्ति मेऽसवः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसके विषय में; वर्ष्मणः—महानतम्; पुंसाम्—मनुष्यों में से; वरिष्णः—अग्रगण्य; सर्व—समस्त; योगिनाम्—योगियों का; विश्रुतौ—सुनने में; श्रुत-देवस्य—वेदों का स्वामी; भूरि—बारम्बार, पुनः पुनः; तृष्यन्ति—तृप्त होती हैं; मे—मेरी; असवः—इन्द्रियाँ।

शौनक ने आगे कहा : स्वयं भगवान् से अधिक जानने वाला कोई अन्य नहीं है। न तो कोई उनसे अधिक पूज्य है, न अधिक प्रौढ़ योगी। अतः वे वेदों के स्वामी हैं और उनके विषय में सुनते रहना इन्द्रियों को सदैव वास्तविक आनन्द प्रदान करने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि न तो कोई श्रीभगवान् के तुल्य है न उनसे बढ़ कर। वेदों में भी इसकी पुष्टि हुई है—*एको बहूनां यो विद्वाति कामान्*। वे परम पुरुष हैं और अन्य समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं। इस प्रकार अन्य समस्त जीवात्माएँ—*विष्णु-तत्त्व* तथा *जीव-तत्त्व* दोनों—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अधीन हैं। यहाँ पर इसी अवधारणा की पुष्टि हुई है। *न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसाम्*—जीवात्माओं में से कोई भी परम पुरुष से बढ़कर नहीं है, क्योंकि कोई भी उनसे अधिक धनवान, विख्यात, बली, सुन्दर, ज्ञानवान या वैराग्यवान नहीं है। इन्हीं गुणों के कारण वे समस्त कारणों के कारणस्वरूप परमात्मा हैं। योगियों को आश्चर्यजनक चमत्कार कर दिखाने का बहुत गर्व रहता है, किन्तु वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की समता नहीं कर सकते।

जो कोई भी परमात्मा से सम्बद्ध होता है उसे प्रथम कोटि का योगी स्वीकार किया जाता है। भले ही भक्तगण परमेश्वर के समान शक्तिशाली न हों, किन्तु भगवान् के निरन्तर साहचर्य से वे भगवान् की तरह हो सकते हैं। कभी-कभी तो वे भगवान् से भी अधिक शक्तिशाली बन जाते हैं। निस्सन्देह यह भगवान् द्वारा दिया गया अनुग्रह होता है।

यहाँ पर *वरिष्ठा*: शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है “समस्त योगियों में सर्वाधिक शक्तिमान।” कृष्ण के मुख से सुनना वास्तविक इन्द्रिय-सुख है, इसीलिए वे गोविन्द कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने शब्दों, उपदेशों, आदेशों से—अपने से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से इन्द्रियों को जीवन्त बना देते हैं। वे जो कुछ भी आदेश देते हैं वह दिव्य पद से रहता है और ये आदेश परम होने के कारण उनसे अभिन्न होते हैं। श्रीकृष्ण से या उनके अंश से या कपिल जैसे अंश के द्वारा श्रवण करना इन्द्रियों को अत्यन्त रुचिकर लगता है। *भगवद्गीता* को अनेक बार पढ़ा या सुना जा सकता है, क्योंकि यह परम आनन्द प्रदान करने वाला ग्रन्थ है, अतः कौी जितना ही *भगवद्गीता* को पढ़ता है उतनी ही उसे पढ़ने तथा समझने की भूख जागृत होती है और हर बार नया प्रकाश प्राप्त होता है। दिव्य सन्देश की यही प्रकृति है। इसी प्रकार का दिव्य सुख *श्रीमद्भागवत* से भी प्राप्त होता है। हम जितना ही भगवान् की महिमा के विषय में सुनते तथा कीर्तन करते हैं उतना ही हम सुखी होते हैं।

यद्यद्विधत्ते भगवान्स्वच्छन्दात्मात्ममायया ।

तानि मे श्रद्धानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; विधत्ते—करते हैं; भगवान्—भगवान्; स्व-छन्द-आत्मा—आत्म इच्छा से पूर्ण, स्वतन्त्र; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; तानि—वे सब; मे—मुझको; श्रद्धानस्य—श्रद्धावान्; कीर्तन्यानि—प्रशंसा के योग्य; अनुकीर्तय—कृपया वर्णन करें।

अतः कृपया उन भगवान् के समस्त कार्यकलापों एवं लीलाओं का संक्षेप में वर्णन करें, जो स्वतन्त्र हैं और अपनी अन्तरंगा शक्ति से इन सारे कार्यकलापों को सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनुकीर्तय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है वर्णन को

समझना, किसी प्रकार का कल्पित मनोरथ उत्पन्न न करना केवल अनुरक्षण करना। शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से प्रार्थना की कि उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से भगवान् द्वारा अपनी अन्तरंगा शक्ति के बल पर प्रकट की गई जिन दिव्य लीलाओं के विषय में सुना हो उन्हें उसी रूप में सुनावें। भगवान् के कोई भौतिक शरीर नहीं होता, किन्तु वे अपनी परम इच्छा से किसी प्रकार का शरीर धारण कर सकते हैं। यह उनकी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा सम्भव है।

सूत उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।

प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; द्वैपायन-सखः—व्यासदेव के मित्र; तु—तब; एवम्—इस प्रकार; मैत्रेयः—मैत्रेय; भगवान्—पूज्य; तथा—इस तरह; प्राह—कहा; इदम्—यह; विदुरम्—विदुर से; प्रीतः—प्रसन्न होकर; आन्वीक्षिक्याम्—दिव्य ज्ञान के विषय में; प्रचोदितः—पूछे जाने पर।

श्रीसूत गोस्वामी ने कहा : परम शक्तिमान ऋषि मैत्रेय व्यासदेव के मित्र थे। दिव्य ज्ञान के विषय में विदुर की जिज्ञासा से प्रोत्साहित एवं प्रसन्न होकर मैत्रेय ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब प्रश्नकर्ता प्रामाणिक हो और वक्ता भी अधिकारी हो तो प्रश्नोत्तर सन्तोषप्रद ढंग से चलता है। यहाँ पर मैत्रेय को शक्तिशाली ऋषि माना गया है, अतः उन्हें भगवान् कहा गया है। यह शब्द न केवल परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया जाता है, अपितु जो भी परमेश्वर के तुल्य शक्तिमान हो उसी के लिए प्रयुक्त होता है। मैत्रेय को भगवान् कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि आध्यात्मिक रूप से वे बहुत आगे बढ़े हुए थे। वे द्वैपायन व्यासदेव के मित्र थे, जो भगवान् के साहित्यावतार थे। विदुर के प्रश्नों से मैत्रेय अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि ये प्रश्न एक प्रामाणिक सिद्ध भक्त के थे। इस तरह मैत्रेय को उत्तर देने में उत्साह प्रतीत हुआ। जब समान मानसिकता वाले भक्तों के मध्य आध्यात्मिक विषयों पर वार्ता होती है, तो प्रश्न तथा उत्तर अन्ततः फलप्रद एवं उत्साहवर्धक होते हैं।

मैत्रेय उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
तस्मिन्बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान्कपिलः किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पितरि—पिता के; प्रस्थिते—प्रस्थान करने पर; अरण्यम्—वन के लिए; मातुः—अपनी माता को; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; तस्मिन्—उस; बिन्दुसरे—बिन्दुसरोवर में; अवात्सीत्—रुका रहा; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल; किल—निस्सन्देह।

मैत्रेय ने कहा : जब कर्दम मुनि बन चले गये तो भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति को प्रसन्न करने के लिए बिन्दु सरोवर के तट पर रहे आये।

तात्पर्य : वयस्क पुत्र का धर्म है कि अपने पिता की अनुपस्थिति में वह अपनी माता का भार अपने ऊपर ले और अपने सामर्थ्य भर उसकी सेवा करे, जिससे उसे पति-वियोग न खले। पति का भी यह कर्तव्य है कि ज्योंही पुत्र सयाना होकर अपनी पत्नी तथा गृहस्थी का भार सँभालने में समर्थ हो जाय कि वह गृहत्याग दे। गृहस्थ जीवन की यही वैदिक प्रणाली है। मनुष्य को मृत्युपर्यन्त गृहस्थी के कार्यों में निरन्तर व्यस्त नहीं रहे आना चाहिए। उसे घर छोड़ देना चाहिए। तब सयाने पुत्र को पारिवारिक मामलों तथा पत्नी का भार ग्रहण करना चाहिए।

तमासीनमकर्मणिं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम् ।

स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (कपिल को); आसीनम्—स्थित; अकर्मणिम्—फुरसत से; तत्त्व—परम सत्य का; मार्ग-अग्र—चरम लक्ष्य; दर्शनम्—जो दिखा सके; स्व-सुतम्—अपने पुत्र को; देवहूतिः—देवहूति ने; आह—कहा; धातुः—ब्रह्मा का; संस्मरती—स्मरण करते हुए; वचः—वचन, शब्द।

अपनी माँ देवहूति को परम सत्य का चरम लक्ष्य दिखला सकने में समर्थ कपिल जब उसके समक्ष फुरसत से बैठे थे तो देवहूति को वे शब्द याद आये जो ब्रह्मा ने उससे कहे थे, अतः वह कपिल से इस प्रकार प्रश्न पूछने लगी।

देवहूतिरुवाच

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात् ।

येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

देवहूति: उवाच—देवहूति ने कहा; निर्विण्णा—ऊबी हुई; नितराम्—अत्यधिक; भूमन्—हे भगवान्; असत्—क्षणिक; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; तर्षणात्—उत्तेजना से; येन—जिससे; सम्भाव्यमानेन—सम्भव होने से; प्रपन्ना—मैं गिर चुकी हूँ; अन्धम् तमः—अज्ञान के गर्त में; प्रभो—हे प्रभु!

देवहूति ने कहा : हे प्रभु, मैं अपनी इन्द्रियों के विक्षोभ से ऊबी हुई हूँ और इसके फलस्वरूप मैं अज्ञान रूपी अन्धकार के गर्त में गिर गई हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर असत् इन्द्रिय-तर्षणात् शब्द सार्थक है। असत् का अर्थ है क्षणिक और इन्द्रिय का अर्थ है इन्द्रियाँ। इस तरह असद्-इन्द्रिय तर्षणात् का अर्थ हुआ “भौतिक शरीर की क्षणिक रूप से प्रकट इन्द्रियों द्वारा क्षुब्ध होकर।” हम भौतिक शरीर के विभिन्न स्तरों से होकर विकसित हो रहे हैं—कभी मानव शरीर में, तो कभी पशु शरीर में रहते हैं—फलतः हमारी इन्द्रियों के कार्य-व्यापार भी बदलते रहते हैं। जो भी वस्तु बदलती है, वह क्षणिक या असत् कहलाती है। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि इन क्षणिक (असत्) इन्द्रियों से परे हमारी स्थायी इन्द्रियाँ होती हैं, जो इस समय भौतिक शरीर से ढकी हुई हैं। स्थायी इन्द्रियाँ पदार्थ से कुलपित होने के कारण सही ढंग से कार्य नहीं करतीं। फलतः इस कल्मष (कल्मष) से इन्द्रियों को मुक्त करना ही भक्ति है। जब कल्मष पूर्णतः दूर हो जाता है और इन्द्रियाँ शुद्ध कृष्णचेतना से युक्त होकर कार्य करती हैं, तो हम सद् इन्द्रिय को अर्थात् शाश्वत ऐन्द्रिय कार्य-कलापों को प्राप्त होते हैं। शाश्वत ऐन्द्रिय कार्यकलाप भक्तियोग कहलाते हैं जबकि क्षणिक ऐन्द्रिय कार्य-कलापों को इन्द्रियतृप्ति कहते हैं। जब तक कोई इन्द्रियतृप्ति से ऊब नहीं जाता, तब तक उसे कपिल-जैसे व्यक्ति से दिव्य सन्देश सुनने का सुयोग प्राप्त नहीं होता। देवहूति ने कहा कि वे ऊब गई हैं। चूँकि अब उनके पति ने गृह-त्याग कर दिया है, अतः वे भगवान् कपिल के उपदेशों को सुनकर विश्राम प्राप्त कर सकती हैं।

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।

सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; त्वम्—तुम; तमसः—अज्ञान; अन्धस्य—अन्धकार का; दुष्पारस्य—पार करना दुष्कर; अद्य—अब; पार-गम्—पार जाना; सत्—दिव्य; चक्षुः—नेत्र; जन्मनाम्—जन्मों के; अन्ते—अन्त में; लब्धम्—प्राप्त किया; मे—मेरा; त्वत्-अनुग्रहात्—तुम्हारी कृपा से।

हे प्रभो, आप ही अज्ञान के इस घने अन्धकार से बाहर निकलने के एकमात्र साधन हैं, क्योंकि आप ही मेरे दिव्य नेत्र हैं जिसे मैंने आपके अनुग्रह से अनेकानेक जन्मों के पश्चात् प्राप्त किया है।

तात्पर्य : यह श्लोक अत्यन्त शिक्षाप्रद है, क्योंकि यह गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध को बताने वाला है। शिष्य या बद्धजीव को अज्ञान के इस महानतम क्षेत्र में रखा जाता है, फलतः वह इन्द्रियतृप्ति के संसार में फँस जाता है। इस बन्धन से निकल कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई इतना भाग्यवान होता है कि उसे कपिलमुनि जैसे गुरु या उनके प्रतिनिधि की संगति प्राप्त हो जाती है, तो उनकी कृपा से अज्ञान के कीचड़ से उसका उद्धार किया जा सकता है। अतः गुरु की पूजा उस व्यक्ति के रूप में की जाती है, जो ज्ञान के प्रकाशपुंज से शिष्य को अज्ञान के कीचड़ से उबार लेता है। *पारगम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पारगम्* उसके लिए आया है, जो शिष्य को उस पार ले जा सकता है। इस ओर बद्धजीव है और उस ओर (पार) उन्मुक्त जीवन है। गुरु ज्ञान के द्वारा शिष्य की आँखें खोलकर उस पार ले जाता है। हम सभी अज्ञान के कारण कष्ट भोगते हैं। गुरु के उपदेश से अज्ञान का अन्धकार हटता है और शिष्य स्वतन्त्रता की ओर जाने में समर्थ होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अनेकानेक जन्मों के बाद श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करता है। इसी प्रकार यदि अनेक जन्मों के बाद किसी को प्रामाणिक गुरु मिल जाता है और वह कृष्ण के ऐसे किसी प्रामाणिक प्रतिनिधि की शरण लेता है, तो वह प्रकाश का किनारा प्राप्त कर सकता है।

य आद्यो भगवान्पुंसामीश्वरो वै भवान्किल ।

लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; आद्यः—मूल; भगवान्—भगवान्; पुंसाम्—समस्त जीवों के; ईश्वरः—स्वामी; वै—वास्तव में; भवान्—आप; किल—निस्सन्देह; लोकस्य—ब्रह्माण्ड का; तमसा—अज्ञान के अन्धकार से; अन्धस्य—अन्धे का; चक्षुः—नेत्र; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; उदितः—उदित, उदय हुआ।

आप श्रीभगवान् हैं, जो समस्त जीवों के मूल तथा परमेश्वर हैं। आप ब्रह्माण्ड के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य की किरणों विस्तारित करने के लिए

उदित हुए हैं।

तात्पर्य : कपिलमुनि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। यहाँ पर *आद्यः* शब्द का अर्थ है, “समस्त जीवों का मूल” तथा *पुंसाम ईश्वरः* का अर्थ “जीवों के ईश्वर (स्वामी)।” कपिलमुनि कृष्ण के साक्षात् विस्तार हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य हैं। जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड के अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार जब भगवान् का प्रकाश नीचे उतरता है, तो यह तुरन्त ही माया के अन्धकार को मिटा देता है। हमारे नेत्र हैं, किन्तु सूर्य के प्रकाश के बिना नेत्रों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह भगवान् के प्रकाश के बिना या गुरु की अलौकिक कृपा के बिना वह वस्तुओं को उसी रूप में नहीं देख सकता।

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टं त्वमर्हसि ।

योऽवग्रहोऽहं ममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; मे—मेरा; देव—हे भगवान्; सम्मोहम्—मोह, भ्रम; अपाक्रष्टम्—भगाने के लिए; त्वम्—तुम; अर्हसि—प्रसन्न होवो; यः—जो; अवग्रहः—भ्रान्त धारणा; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; इति—इस प्रकार; एतस्मिन्—इसमें; योजितः—लगाया हुआ; त्वया—तुम्हारे द्वारा।

हे प्रभु, अब प्रसन्न हों और मेरे महा मोह को दूर करें। अहंकार के कारण मैं आपकी माया में व्यस्त रही और मैंने अपने आपको शरीर रूप में तथा फलस्वरूप शारीरिक सम्बन्धों के रूप में पहचाना।

तात्पर्य : अपने शरीर में आत्मबुद्धि का अहंकार तथा इस शरीर के साथ अपनी संग्रह की हुई वस्तुओं को जोड़ने का दावा माया कहलाता है। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं, “मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और सबों की स्मृति तथा विस्मृति मुझी से है।” देवहूति ने कहा कि अपने आपको शरीर मानना तथा शारीरिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति भी भगवान् के निर्देशन में है, तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि भगवान् एक को भक्ति में और दूसरे को इन्द्रियतृप्ति में लगाकर भेदभाव बरतते हैं? यदि ऐसा हो तो भगवान् की ओर से यह असंगति होगी, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ज्योंही जीव भगवान् के प्रति अपनी वास्तविक स्वाभाविक दासता की स्थिति भूल जाता है और इन्द्रियतृप्ति के माध्यम से भोग करना चाहता

है, तो वह माया द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। माया द्वारा यह बन्धन शरीर तथा शारीरिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति के साथ झूठी पहचान की चेतना है। ये माया के कार्य हैं और चूँकि माया भी भगवान् की एक एजेन्ट है, अतः परोक्षतः यह भगवान् का कार्य है। भगवान् दयालु हैं। यदि कोई उन्हें भुलाकर इस भौतिक जगत का सुखोपभोग करना चाहता है, तो उसे इसकी पूरी छूट प्रत्यक्ष रूपसे नहीं, अपितु उनकी भौतिक शक्ति (माया) के माध्यम से मिलती है। चूँकि यह भौतिक शक्ति भगवान् की शक्ति होती है, अतः प्रत्यक्ष रूप से विस्मृत करने की सुविधा प्रदान करने वाले भगवान् ही होते हैं। अतः देवहूति ने कहा, “इन्द्रियतृप्ति में मेरी व्यस्तता का कारण आप ही थे। अब मुझे इस बन्धन से मुक्त करें।”

ईश्वर की कृपा से मनुष्य को इस भौतिक जगत का भोग करने की अनुमति प्राप्त है, किन्तु जब वह भौतिक सुख से ऊब कर हताश होता है और जब वह निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है, तो ईश्वर सदय होने के कारण उसे बन्धन से मुक्त कर देते हैं। अतः *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं, “सबसे पहले मेरी शरण में आ जाओ तब तुम्हारा दायित्व मैं उठा लूँगा और मैं तुम्हें समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त कर दूँगा।” पापकर्म वे कर्म हैं, जिन्हें हम भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भुला देने की स्थिति में करते हैं। इस संसार में भौतिक सुख के लिए जिन कर्मों को पवित्र माना जाता है वे भी पापपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, कभी-कभी मनुष्य किसी गरजमंद व्यक्ति को इस दृष्टि से दान देता है कि बदले में उसे चारगुना अधिक धन मिलेगा। लाभ के उद्देश्य से दिया गया दान रजोगुणी दान है। यहाँ जो भी कर्म किया जाता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन रहकर किया जाता है, फलतः भगवान् की सेवा के अतिरिक्त सारे कार्य पापपूर्ण हैं। पापकर्मों के कारण हम भौतिक आसक्ति द्वारा मोहित होते रहते हैं “मैं यह शरीर हूँ।” मैं शरीर को स्व तथा शारीरिक सम्पत्ति को ‘मेरा’ सोचता हूँ। देवहूति ने मिथ्या पहचान तथा मिथ्या सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त करने के लिए भगवान् कपिल से प्रार्थना की।

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
 स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
 जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
 नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस व्यक्ति को; त्वा—तुम तक; गता—गया हुआ; अहम्—मैं; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण ग्रहण करने योग्य; स्व-भृत्य—अपने आश्रितों के लिए; संसार—संसार के; तरोः—वृक्ष की; कुठारम्—कुल्हाड़ी; जिज्ञासया—जानने की इच्छा से; अहम्—मैं; प्रकृतेः—पदार्थ (स्त्री) का; पूरुषस्य—आत्मा (पुरुष) का; नमामि—नमस्कार करती हूँ; सत्-धर्म—शाश्वत वृत्ति के; विदाम्—ज्ञाताओं का; वरिष्ठम्—महानतम को ।

देवहूति ने आगे कहा : मैंने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, क्योंकि आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनकी शरण ग्रहण की जा सकती है। आप वह कुल्हाड़ी हैं जिससे संसार रूपी वृक्ष काटा जा सकता है। अतः मैं आपको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि समस्त योगियों में आप महानतम हैं। मैं आपसे पुरुष तथा स्त्री और आत्मा तथा पदार्थ के सम्बन्ध के विषय में जानना चाहती हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि सर्वविदित है, सांख्य योग प्रकृति तथा पुरुष के विषय से सम्बन्धित है। श्रीभगवान् या भोक्ता के रूप में जो कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अनुकरण करता है, वह पुरुष है और प्रकृति का अभिप्राय प्रकृति से है। इस भौतिक जगत में पुरुषों या जीवों के द्वारा प्रकृति का उपभोग होता है। इस संसार में प्रकृति तथा पुरुष अथवा भोग्य तथा भोक्ता के सम्बन्ध की जटिलताएँ संसार अथवा भौतिक बन्धन कहलाती हैं। देवहूति भौतिक बन्धन रूपी वृक्ष को काटना चाह रही थीं और इसके लिए उन्हें कपिल मुनि के रूप में कुठार प्राप्त हुआ था। भगवद्गीता के पंद्रहवें अध्याय में संसार रूपी वृक्ष की व्याख्या उस अश्वत्थ वृक्ष के रूप में की गई है, जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी और शाखाएँ अधोमुखी हैं। यहाँ यह बताया गया है कि इस संसार रूपी वृक्ष की जड़ को विरक्ति के कुठार से काटना होता है। आसक्ति क्या है? इसमें प्रकृति तथा पुरुष सन्निहित हैं। जीव प्रकृति पर अधिकार जताना चाहते हैं और चूँकि बद्धजीव प्रकृति को ही अपने भोग का लक्ष्य बनाता है और स्वयं भोक्ता बनता है, अतः वह पुरुष कहलाता है।

देवहूति ने कपिल मुनि से प्रश्न किया, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे इस भौतिक संसार के

प्रति उसकी आसक्ति को छिन्न कर सकते हैं। पुरुषों तथा स्त्रियों के वेश में जीवात्माएँ भौतिक शक्ति का आनन्द उठाना चाहती हैं, अतः एक प्रकार से प्रत्येक जीवात्मा पुरुष है, क्योंकि पुरुष का अर्थ है 'भोक्ता' और प्रकृति का अर्थ है 'भोग्या'। इस जगत में तथाकथित पुरुष तथा तथाकथित स्त्री दोनों ही वास्तविक पुरुष का अनुकरण करते हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से वास्तविक भोक्ता हैं, जबकि शेष सभी प्रकृति हैं। जीवात्माएँ प्रकृति मानी जाती हैं। *भगवद्गीता* में पदार्थ को *अपरा* अर्थात् निकृष्ट प्रकृति कहा गया है। इस निकृष्ट प्रकृति से परे एक अन्य श्रेष्ठ प्रकृति है—जीवात्माएँ। जीवात्माएँ भी प्रकृति या भोग्या हैं, किन्तु माया के वश में आकर जीवात्माएँ अपने को भोक्ता मानती हैं। *संसार बन्धन* या बद्ध जीवन का यही कारण है। देवहूति बद्ध जीवन से निकलकर पूर्णतया समर्पित हो जाना चाहती थीं। भगवान् *शरण्य* हैं जिसका अर्थ यह होता है कि वे ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनको पूर्णरूप से समर्पण किया जा सकता है, क्योंकि वे ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। यदि कोई सचमुच विश्राम चाहता है, तो सर्वश्रेष्ठ मार्ग है कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाय। भगवान् को यहाँ पर *सद्धर्म-विदां वरिष्ठम्* कहा गया है। यह बताता है कि दिव्य वृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ वृत्ति श्रीभगवान् की प्रेमा-भक्ति है। कभी-कभी धर्म का धर्म के रूप में अर्थ किया जाता है, किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है, "वह जिसका परित्याग नहीं हो सकता, जिसे स्व से पृथक् नहीं किया जा सकता।" अग्नि की उष्णता अग्नि से विलग नहीं की जा सकती इसलिए उष्णता को अग्नि का धर्म या प्रकृति (गुण) कहा जाता है। इसी प्रकार *सद्धर्म* का अर्थ है शाश्वत धर्म (वृत्ति)। यह शाश्वत वृत्ति है ईश्वर की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगना। कपिलदेव के सांख्य दर्शन का उद्देश्य विशुद्ध, कल्मषरहित भक्ति का प्रसार है, फलतः उन्हें जीव के दिव्य धर्म के ज्ञाताओं में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कहकर सम्बोधित किया गया है।

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं

निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम् ।

धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-

बर्भाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; स्व-मातुः—अपनी माता की; निरवद्यम्—कल्मषहीन; ईप्सितम्—इच्छा को; निशम्य—सुनकर; पुंसाम्—लोगों के; अपवर्ग—मोक्ष; वर्धनम्—बढ़ते हुए; धिया—मानसिक रूप से; अभिनन्द्य—धन्यवाद देकर; आत्म-वताम्—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले, आत्मज्ञ; सताम्—सत्यपुरुष, गुणातीतवादी; गतिः—पथ, मार्ग; बभाषे—कह सुनाया; ईषत्—कुछ-कुछ; स्मित—हँसते हुए; शोभित—सुन्दर; आननः—मुखमण्डल।

मैत्रेय ने कहा : दिव्य साक्षात्कार के लिए अपनी माता की कल्मषरहित इच्छा को सुनकर भगवान् ने मन-ही-मन उनके प्रश्नों के लिए धन्यवाद दिया और इस प्रकार मुस्कान-युत मुख से उन्होंने आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले अध्यात्मवादियों के मार्ग की व्याख्या की।

तात्पर्य : देवहूति ने भवबन्धन अपने उलझे होने की स्वीकृति तथा उससे छुटकारे की इच्छा से आत्म-समर्पण कर दिया। जो लोग भवबन्धन से मोक्ष पाने के इच्छुक हैं और मानव जीवन की पूर्णता की अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए देवहूति द्वारा कपिल से पूछे गये प्रश्न अत्यन्त रोचक हैं। जब तक कोई अपने आध्यात्मिक जीवन या अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने में रुचि नहीं रखता और जब तक इस संसार में असुविधा का अनुभव नहीं करता, तब तक उसका मनुष्य जीवन वृथा जाता है। जो जीवन की इन दिव्य आवश्यकताओं की परवाह न करके पशु की भाँति खाने, सोने, डरने तथा संभोग करने में लगा रहता है, वह अपना जीवन गँवा देता है। भगवान् कपिल अपनी माता के प्रश्नों से अत्यधिक प्रसन्न थे, क्योंकि उनके उत्तर संसार के बद्धजीवन से मुक्ति की इच्छा को जागरित करने वाले हैं। ऐसे प्रश्न अपवर्ग वर्धनम् कहलाते हैं। जिनमें वास्तविक आध्यात्मिक रुचि होती है वे सत् अथवा भक्त कहलाते हैं। सतां प्रसङ्गात्। सत् का अर्थ है “जिसका शाश्वत अस्तित्व है” और असत् का अर्थ है “जो शाश्वत नहीं है।” जब तक मनुष्य आध्यात्मिक स्थिति (पद) को प्राप्त नहीं होता वह सत् नहीं होता; वह असत् है। असत् ऐसी स्थिति में रहता है, जिसका अस्तित्व नहीं होता और जो भी आध्यात्मिक स्थिति पर होता है उसका अस्तित्व शाश्वत होता है। आत्मा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है, किन्तु असत् तो भौतिक जगत को अपना आश्रय

बनाता है, फलतः वह चिन्ता से पूर्ण रहता है। *असद्-ग्राहान्* जो आत्मा पदार्थ को भोगने का झूठा विचार रखे उसकी असंगत स्थिति उसके असत् होने का कारण है। वास्तव में, आत्मा *असत्* नहीं है। ज्योंही मनुष्य इस तथ्य के प्रति सचेत हो जाता है और वह कृष्णभावनामृत अपना लेता है, तो वह *सत्* बन जाता है। *सतां गतिः* या नित्य का मार्ग उन व्यक्तियों के लिए अत्यन्त रुचिकर है, जो मुक्ति चाहते हैं और भगवान् कपिल ने इसी मार्ग के विषय में कहना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।

अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगः—योग प्रणाली; आध्यात्मिकः—आत्मा से सम्बन्धित; पुंसाम्—जीवों का; मतः—स्वीकृत है; निःश्रेयसाय—चरम लाभ हेतु; मे—मेरे द्वारा; अत्यन्त—पूर्ण; उपरतिः—विरक्ति; यत्र—जहाँ; दुःखस्य—दुख से; च—तथा; सुखस्य—सुख से; च—तथा।

भगवान् ने उत्तर दिया : जो योग पद्धति भगवान् तथा व्यक्तिगत जीवात्मा को जोड़ती है, जो जीवात्मा के चरम लाभ के लिए है और जो भौतिक जगत में समस्त सुखों तथा दुखों से विरक्ति उत्पन्न करती है, वही सर्वोच्च योग पद्धति है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में व्यक्ति कुछ-न-कुछ सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु जैसे ही हमें थोड़ा सुख-लाभ होता है कि भौतिक दुख भी पड़ता है। इस संसार में किसी को एकान्तिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार का सुख दुख से कलुषित हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम दूध पीना चाहें तो हमें गाय पालना होगा और उसे दूध देने लायक बनाए रखना होगा। दूध पीना तो अच्छा है। और आनन्द भी है, किन्तु दूध पीने के लिए मनुष्य को इतनी सारी झंझटें उठानी पड़ती हैं। जैसाकि भगवान् ने यहाँ पर कहा है योग पद्धति समस्त सुख तथा दुख को समाप्त करने के लिए है। जैसी कि *भगवद्गीता* में कृष्ण ने शिक्षा दी है, सर्वोत्तम योग भक्तियोग है। *गीता* में यह भी कहा गया है कि मनुष्य को सहिष्णु बनना चाहिए और भौतिक सुख या दुख से विचलित नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह मनुष्य यह

कह सकता है कि वह सुख से विचलित नहीं होता, किन्तु उसे यह पता नहीं कि तथाकथित सुख भोगने के बाद दुख आएगा। यही भौतिक जगत का नियम है। भगवान् कपिल कहते हैं कि योग पद्धति आत्मा का विज्ञान है। मनुष्य योग का अभ्यास आध्यात्मिक पद की पूर्णता प्राप्त करने के लिए करता है। इसमें भौतिक सुख या दुख का प्रश्न नहीं उठता। यह दिव्य होता है। अन्ततः भगवान् कपिल बताएँगे कि यह किस तरह दिव्य है, किन्तु यहाँ पर प्रारम्भिक प्रस्तावना दी गई है।

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे ।

ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तम् इमम्—वही; ते—तुमको; प्रवक्ष्यामि—बतलाऊँगा; यम्—जो; अवोचम्—मैंने बतलाया था; पुरा—पहले; अनघे—हे पूज्य माता; ऋषीणाम्—ऋषियों को; श्रोतु-कामानाम्—सुनने के लिए उत्सुक; योगम्—योग पद्धति; सर्व-अङ्ग—सभी प्रकार से; नैपुणम्—उपयोगी एवं व्यावहारिक।

हे परम पवित्र माता, अब मैं आपको वही प्राचीन योग पद्धति समझाऊँगा, जिसे मैंने पहले महान् ऋषियों को समझाया था। यही हर प्रकार से उपयोगी एवं व्यावहारिक है।

तात्पर्य : भगवान् किसी नई योग पद्धति का निर्माण नहीं करते। कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि अमुक व्यक्ति ईश्वर का अवतार हो गया है और परम सत्य के एक नवीन नैतिक पक्ष की स्थापना कर रहा है। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि यद्यपि कपिल मुनि स्वयं भगवान् हैं और अपनी माता के लिए नवीन सिद्धान्त (वाद) निर्मित करने में समर्थ हैं, तो भी वे कहते हैं, “मैं उस प्राचीन योग पद्धति को समझाऊँगा जिसे एक बार मैंने ऋषियों को समझाया था, क्योंकि वे इसके विषय में सुनने के लिए उत्कण्ठित थे।” जब हमारे पास वैदिक शास्त्रों में पहले से सर्वश्रेष्ठ विधि उपलब्ध है, तो फिर नई पद्धति के गढ़ने और भोलीभाली जनता को गुमराह करने की क्या आवश्यकता है? आज के जमाने में मानक पद्धति को टुकराना और योग के नाम पर नव आविष्कृत भ्रष्ट पद्धति प्रस्तुत करना एक फैशन बन चुका है।

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

चेतः—चेतना; खलु—निस्सन्देह; अस्य—उसका; बन्धाय—बन्धन के लिए; मुक्तये—मुक्ति के लिए; च—तथा;
आत्मनः—जीव का; मतम्—माना जाता है; गुणेषु—तीनों गुणों में; सक्तम्—मोहित; बन्धाय—बद्धजीवन के लिए;
रतम्—आसक्त; वा—अथवा; पुंसि—परमात्मा में; मुक्तये—मुक्ति के लिए।

जीवात्मा की चेतना जिस अवस्था में प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा आकृष्ट होती है, वह बद्धजीवन कहलाती है। किन्तु जब वही चेतना श्रीभगवान् के प्रति आसक्त होती है, तो मनुष्य मोक्ष की चेतना में स्थित हो।

तात्पर्य : कृष्णचेतना तथा मायाचेतना में अन्तर है। गुणेषु या मायाचेतना में प्रकृति के तीनों गुणों के प्रति आसक्ति होती है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य कभी सतो, कभी रजो और कभी तमोगुण में कार्य करता है। ये विभिन्न गुणात्मक कार्य, जिनमें भौतिक भोग के लिए मुख्य आसक्ति रहती है, मनुष्य के बद्धजीवन के कारणस्वरूप हैं। जब वही चेतः या चेतना पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में स्थानान्तरित हो जाती है या जब मनुष्य कृष्णभक्त बन जाता है, तो वह मुक्ति के पथ पर होता है।

अहं ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; मम—मेरा; अभिमान—भ्रान्ति से; उत्थैः—उत्पन्न, जनित; काम—काम; लोभ—लालच; आदिभिः—
इत्यादि; मलैः—मलों (विकारों) से; वीतम्—मुक्त, से रहित; यदा—जब; मनः—मन; शुद्धम्—शुद्ध; अदुःखम्—
दुःखरहित; असुखम्—सुखविहीन; समम्—समभाव।

जब मनुष्य शरीर को “मैं” तथा भौतिक पदार्थों को “मेरा” मानने के झूठे भाव से उत्पन्न काम तथा लोभ के विकारों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तो उसका मन शुद्ध हो जाता है। उस विशुद्धावस्था में वह तथाकथित भौतिक सुख तथा दुख की अवस्था को लाँघ जाता है।

तात्पर्य : काम तथा लोभ संसार के लक्षण हैं। हर व्यक्ति सदैव कुछ न कुछ रखना चाहता है। यहाँ पर यह कहा गया है कि इच्छा तथा लालच शरीर के साथ स्वयं की गलत पहचान के

प्रति-फल हैं। जब मनुष्य इस कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो उसके मन तथा चेतना भी मुक्त होकर अपनी आदि अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। मन, चेतना तथा जीवात्मा विद्यमान रहते हैं। जब हम जीव की बात करते हैं, तो उसमें मन तथा चेतना भी सम्मिलित रहते हैं। जब हम मन तथा चेतना को शुद्ध कर लेते हैं, तो बद्ध जीवन तथा मुक्त जीवन में अन्तर आ जाता है। जब वे शुद्ध हो जाते हैं, तो मनुष्य भौतिक सुख तथा दुख से आगे निकल जाता है।

प्रारम्भ में ही भगवान् कपिल ने कहा है कि पूर्ण योग से मनुष्य सुख तथा दुख अवस्था के परे जा सकता है। यहाँ यह बताया गया है कि इसे कैसे किया जाता है—मनुष्य को अपना मन तथा चेतना को शुद्ध करना होता है। इसे भक्तियोग पद्धति द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। जैसाकि नारद पंचरात्र में बताया गया है मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों को शुद्ध बनाना चाहिए (तत्परत्वेन निर्मलम्)। मनुष्य की इन्द्रियाँ भगवान् की भक्ति में लगनी चाहिए। यही विधि है। मन को कुछ न कुछ काम में लगे रहना होता है। मनुष्य मन को खाली नहीं रख सकता। निस्सन्देह मन को खाली या रिक्त बनाने के कतिपय मूर्खतापूर्ण प्रयास किये जाते हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जिस एकमात्र विधि से मन शुद्ध हो सकता है, वह है इसे कृष्ण में लगाना। मन को लगाये रखना चाहिए। यदि हम अपने मन को कृष्ण में लगाएँ, तो यह स्वाभाविक है कि हमारी चेतना पूर्णतः शुद्ध हो जाय और भौतिक काम तथा लोभ के प्रवेश की गुंजाईश ही न रहे।

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।

निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; पुरुषः—जीव; आत्मानम्—अपने आपको; केवलम्—शुद्ध; प्रकृतेः परम्—संसार से परे; निरन्तरम्—अभिन्न; स्वयम्-ज्योतिः—स्वयं-प्रकाश, स्वतः तेजवान्; अणिमानम्—सूक्ष्म; अखण्डितम्—खंडित नहीं, अखण्ड।

उस समय जीव अपने आपको संसार से परे, सदैव स्वयंप्रकाशित, अखंडित एवं सूक्ष्म आकार में देख सकता है।

तात्पर्य : विशुद्ध चेतना या कृष्णभक्ति की स्थिति में मनुष्य अपने आपको परमेश्वर से

अभिन्न एक सूक्ष्म कण के रूप में देख सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जीव परमेश्वर का शाश्वत अंश है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य की प्रकाशमान संरचना के सूक्ष्म कण हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा का सूक्ष्म कण है। परमेश्वर से जीव का विलगन भौतिक विभाजन जैसा नहीं होता। जीव प्रारम्भ से ही एक कण है। किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि जीव एक कण होने के कारण पूर्ण आत्मा से खण्डित है। मायावाद दर्शन बताता है कि पूर्ण आत्मा विद्यमान रहता है, किन्तु इसका एक अंश जिसे जीव कहते हैं मोहवश बन्दी हो जाता है। वह दर्शन हमें स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि आत्मा को पदार्थ की भाँति खण्डित नहीं किया जा सकता। वह खण्ड या जीव शाश्वत रूप से खण्ड रहता है। जब तक परम आत्मा विद्यमान रहता है तब तक उसका अंश भी विद्यमान रहता है। जब तक सूर्य का अस्तित्व है तब तक सूर्य किरणों के अणु भी विद्यमान रहेंगे।

वैदिक साहित्य में जीव-कण को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के आकार का बताया गया है। अतः यह अतिसूक्ष्म है। परमात्मा अनन्त है, किन्तु जीव या जीवात्मा सूक्ष्म है, यद्यपि गुण में यह परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस श्लोक में दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। एक है *निरन्तरम्*—जिसका अर्थ 'अभिन्न' अथवा "उसी गुण वाला।" जीव को यहाँ पर *अणिमानम्* भी कहा गया है। *अणिमानम्* का अर्थ है "अतिसूक्ष्म।" परम आत्मा सर्वव्यापी है, किन्तु जीव अति लघु आत्मा है। *अखण्डतम्* का अर्थ वस्तुतः "खण्डित नहीं" अपितु स्वाभाविक रूप से सदैव अतिसूक्ष्म है। सूर्य से सूर्यप्रकाश के अणुवीय खण्डों को कोई भी विलग नहीं कर सकता, किन्तु सूर्यप्रकाश का अणुवीय खण्ड सूर्य जैसा व्यापक नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति के द्वारा गुणात्मक रूप से परम आत्मा के समान ही है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; युक्तेन—से युक्त; भक्ति—भक्ति; युक्तेन—से युक्त; च—तथा; आत्मना—मन से; परिपश्यति—देखता है; उदासीनम्—उदासीन; प्रकृतिम्—संसार को; च—तथा; हत-ओजसम्—शक्ति से वंचित।

आत्म-साक्षात्कार की उस अवस्था में मनुष्य ज्ञान तथा भक्ति में त्याग के अभ्यास से प्रत्येक वस्तु को सही रूप में देख सकता है, वह इस संसार के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है और उस पर भौतिक प्रभाव अत्यल्प प्रबलता के साथ काम कर पाते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार किसी रोग के कीटाणुओं के सम्पर्क से निर्बल मनुष्य प्रभावित हो सकता है उसी प्रकार से भौतिक प्रकृति या माया का प्रभाव दुर्बल या बद्धजीवों पर पड़ता है, मुक्त जीवों पर नहीं। आत्म-साक्षात्कार ही मुक्त अवस्था की स्थिति है। ज्ञान तथा वैराग्य के द्वारा मनुष्य को अपनी स्थिति का पता चलता है। ज्ञान के बिना अनुभूति सम्भव नहीं। यह अनुभूति कि वह परमात्मा का अति सूक्ष्म अंश है, उसे भौतिक बद्ध जीवन से अनासक्त बनाती है। यही भक्तियोग का शुभारम्भ है। भौतिक कल्मष से मुक्त हुए बिना भगवान् की भक्ति में नहीं लगा जा सकता। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—*ज्ञानवैराग्ययुक्तेन*—जब मनुष्य अपनी स्थिति से पूर्णतः अवगत होता है और भौतिक आकर्षण से विलग होकर विरक्त जीवन बिताता है, तो शुद्ध भक्ति के द्वारा—*भक्तियुक्तेन*—वह भगवान् का प्रिय दास बन सकता है। *परिपश्यन्ति* का अर्थ है कि वस्तुओं को सही रूप में देख सकता है। तब भौतिक प्रकृति का प्रभाव प्रायः शून्य हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा*—स्वरूपसिद्ध होने पर मनुष्य प्रसन्न तथा भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और उसी के साथ वह शोक तथा चाह से भी मुक्त हो जाता है। भगवान् उस स्थिति को *मद्भक्तिं लभते पराम्*—अर्थात् भक्ति के शुभारम्भ की वास्तविक दशा कहते हैं। इसी प्रकार इसकी पुष्टि *नारद पंचरात्र* में हुई है कि इन्द्रियों के शुद्ध होने पर उन्हें भगवान् की भक्ति में लगाया जा सकता है। जो भौतिक कल्मष से आकृष्ट है, वह भक्त नहीं हो सकता।

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।

सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; युज्यमानया—सम्पन्न की जा रही; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् के प्रति; अखिल-आत्मनि—परमात्मा; सदृशः—के समान; अस्ति—है; शिवः—मंगलकारी, शुभ; पन्थाः—पथ; योगिनाम्—योगियों का; ब्रह्मसिद्धये—आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए।

किसी भी प्रकार का योगी जब तक श्रीभगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं हो जाता, तब तक आत्म-साक्षात्कार में पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि भक्ति ही एकमात्र शुभ मार्ग है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि भक्ति को मिलाए बिना ज्ञान तथा वैराग्य कभी पूर्ण नहीं होते। न युज्यमानया का अर्थ है, “बिना एक साथ जोड़े।” जब भक्तिमय सेवा होती है, तो यह प्रश्न उठता है कि सेवा किसको अर्पित की जाय? यह भक्ति श्रीभगवान् को ही अर्पित की जानी है, क्योंकि वे ही हर एक के परमात्मा हैं और आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार का यही एकमात्र विश्वस्त मार्ग है। ब्रह्मसिद्धये शब्द का अर्थ है अपने को पदार्थ से भिन्न समझना, अपने आपको ब्रह्म समझना। वैदिक शब्द है अहं ब्रह्मास्मि। ब्रह्मसिद्धि का अर्थ है कि मनुष्य समझे कि वह पदार्थ नहीं है—वह शुद्ध आत्मा है। योगी कई प्रकार के होते हैं, किन्तु प्रत्येक योगी आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार करने में लगा रहता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुआ जाता, तब तक मनुष्य ब्रह्मसिद्धि के मार्ग तक नहीं पहुँच सकता।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है कि जब मनुष्य अपने आपको वासुदेव की भक्ति में लगाता है, तो आध्यात्मिक ज्ञान तथा वैराग्य स्वतः प्रकट होते हैं। फलस्वरूप भक्त को ज्ञान या वैराग्य के लिए अलग से प्रयास नहीं करना होता। भक्तिमय सेवा अपने आप में इतनी शक्तिमान होती है कि मनुष्य की सेवा की प्रवृत्ति के द्वारा सब कुछ प्रकट हो जाता है। यहाँ पर शिवः पन्थाः कहा गया है—आत्म-साक्षात्कार का यही एकमात्र शुभ मार्ग है। ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए भक्ति मार्ग परम गुह्य साधन है। यह तथ्य कि भक्ति के शुभ पथ के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की सिद्धि प्राप्त होती है, यह संकेत देता है कि तथाकथित ब्रह्म-साक्षात्कार या ब्रह्मज्योति तेज ब्रह्मसिद्धि नहीं है। ब्रह्मज्योति से भी आगे श्रीभगवान् हैं। उपनिषदों में भक्त को भगवान् से प्रार्थना करता बताया गया है कि कृपया ब्रह्मज्योति को एक

ओर कर लें जिससे वह ब्रह्मज्योति के भीतर भगवान् के वास्तविक शाश्वत रूप का दर्शन कर सके। जब तक मनुष्य भगवान् के दिव्य रूप की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता तब तक भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्तिमय सेवा के लिए अनिवार्य है कि भक्ति का कोई ग्रहण कर्ता हो तथा भक्त हो जो भक्ति करता है। भक्ति के द्वारा ब्रह्मसिद्धि ही भगवान् का साक्षात्कार है। भगवान् के शरीर की तेजस्वी किरणों का ज्ञान हो जाना ब्रह्मसिद्धि की पूर्णावस्था नहीं है। न ही परम पुरुष के परमात्मा-स्वरूप का दर्शन ही पूर्ण है, क्योंकि भगवान् अखिलात्मा हैं—वे परमात्मा हैं। जो भगवान् का साक्षात्कार करता है, वह अन्य रूपों—यथा परमात्मा रूप तथा ब्रह्म रूप का भी दर्शन करता है और सम्पूर्ण साक्षात्कार ही ब्रह्मसिद्धि है।

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।

स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रसङ्गम्—आसक्ति; अजरम्—प्रबल; पाशम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा का; कवयः—विद्वान् पुरुष; विदुः—जानते हैं; सः एव—वही; साधुषु—भक्तों में; कृतः—प्रयुक्त; मोक्ष-द्वारम्—मुक्ति का दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ।

प्रत्येक विद्वान् व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि सांसारिक आसक्ति ही आत्मा का सबसे बड़ा बन्धन है। किन्तु वही आसक्ति यदि स्वरूपसिद्ध भक्तों के प्रति हो जाय तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि किसी वस्तु के लिए आसक्ति होना बद्ध जीवन में बन्धन का कारण है, किन्तु यदि यही आसक्ति किसी अन्य के प्रति हो तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है। आसक्ति की हत्या नहीं की जा सकती, इसे केवल स्थानान्तरित करना होता है। भौतिक वस्तुओं के लिए आसक्ति को भौतिक चेतना कहते हैं और कृष्ण या उनके भक्त के लिए आसक्ति को कृष्णचेतना (भावनामृत, भक्ति) कहते हैं। फलतः चेतना आसक्ति का अभिव्यक्ति-माध्यम है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब हम अपनी भौतिक चेतना को शुद्ध करके कृष्णचेतना कर लेते हैं, तो हमें मोक्ष प्राप्त होता है। इस कथन के बावजूद कि आसक्ति का परित्याग किया जाय, जीवात्मा के लिए सम्भव नहीं कि वह अनासक्त (इच्छाविहीन) हो

सके। जीव में स्वभावतः किसी न किसी वस्तु से आसक्त होने का झुकाव होता है। हम देखते हैं कि यदि किसी के कोई आसक्ति की वस्तु नहीं होती, यदि उसके सन्तान नहीं होती तो वह अपनी आसक्ति कुत्तों तथा बिल्लियों में स्थानान्तरित कर देता है। इससे सूचित होता है कि आसक्ति के झुकाव को रोका नहीं जा सकता; इसे श्रेष्ठ कार्य के लिए उपयोग में लाना चाहिए। भौतिक वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति होने से हमारी बद्ध अवस्था चलती रहती है, किन्तु यदि इसी आसक्ति को भगवान् में या उनके भक्त में लगा दिया जाय तो वह मोक्ष का स्रोत बन जाती है।

यहाँ संस्तुति की गई है कि आसक्ति को स्वरूपसिद्ध भक्तों या साधुओं में स्थानान्तरित कर दिया जाय। पर साधु है कौन? साधु कोई सामान्य व्यक्ति नहीं होता जो गेरुआ वस्त्र पहने हो या लम्बी सी दाढ़ी रखे हो। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि साधु वह है, जो बिना हिचकिचाहट के भक्ति में लगा रहता है। भले ही वह भक्ति के नियमों का दृढ़ता से पालन न करता हो, किन्तु यदि परम पुरुष कृष्ण में उसकी अडिग आस्था है, तो वह साधु समझा जाता है। *साधुरेव स मन्तव्यः*। साधु भक्ति का कट्टर अनुयायी होता है। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि जो ब्रह्म-साक्षात्कार करना चाहता है या आध्यात्मिक सिद्धि का इच्छुक है, उसे चाहिए कि साधु या भक्त से आसक्ति करे। भगवान् चैतन्य ने भी इसकी पुष्टि की है। *लव मात्र साधुसंगे सर्व सिद्धि हय*—साधु की क्षणमात्र की संगति से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

महात्मा शब्द साधु का पर्यायवाची है। कहा जाता है कि महात्मा की सेवा मुक्ति का राज मार्ग है—*द्वारमाहुर्विमुक्तेः । महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्* (*भागवत* ५.५.२)। भौतिकतावादियों की सेवा करने से उल्टा प्रभाव होता है। यदि कोई किसी निरे भौतिकतावादी या इन्द्रियभोग में लिप्त व्यक्ति की सेवा करता है, तो ऐसे व्यक्ति की संगति से नर्क का द्वार खुल जाता है। यहाँ इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। भक्त के प्रति आसक्ति भगवद्सेवा के प्रति आसक्ति है, क्योंकि यदि कोई साधु की संगति करता है, तो वह शिक्षा देगा कि किस प्रकार भगवान् का भक्त, पूजक तथा निष्ठावान दास बना जाय। साधु के यही

वरदान हैं। यदि हम साधु की संगति करना चाहें तो हमें यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह हमें बतायेगा कि हम अपनी भौतिक स्थिति किस प्रकार सुधरें, अपितु वह हमें यह शिक्षा देगा कि भौतिक आकर्षण रूपी कल्मष की गाँठ कैसे काटी जाय और भक्ति में हम कैसे ऊपर उठें। साधु की संगति का यही फल है। कपिल मुनि सर्वप्रथम बताते हैं कि मुक्ति मार्ग ऐसी ही संगति से प्रारम्भ होता है।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।

अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तितिक्षवः—सहनशील; कारुणिकाः—दयालु; सुहृदः—सुहृद; सर्व-देहिनाम्—समस्त जीवों के; अजात-शत्रवः—किसी के प्रति शत्रुता न रखने वाले; शान्ताः—शान्त; साधवः—शास्त्रों के अनुसार चलने वाले; साधु-भूषणाः—अलौकिक गुणों से भूषित।

साधु के लक्षण हैं कि वह सहनशील, दयालु तथा समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त रहता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण अलौकिक होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, साधु भगवान् का भक्त होता है, अतः उसका मुख्य कार्य लोगों में भगवान् की भक्ति जगाना है। यही उसकी दया है। वह जानता है कि भगवान् की भक्ति के बिना मनुष्य-जीवन चौपट हो जाता है। भक्त संसार भर में भ्रमण करके द्वार-द्वार जाकर उपदेश देता है, “कृष्ण-भक्त बनो, अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ही पूरा करने में अपना जीवन नष्ट न करो। यह मानव जीवन आत्म-साक्षात्कार या कृष्ण भक्ति के लिए है।” ये ही साधु के उपदेश हैं। वह अपने मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव दूसरों के विषय में सोचता रहता है। वह समस्त पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु व्यक्ति होता है। अतः उसका एक गुण है—कारुणिकता—पतितात्माओं के प्रति दया। उपदेश कार्य करते हुए उसे अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, अतः साधु या भगवद्भक्तों को अत्यन्त सहनशील या सहिष्णु होना पड़ता है। कोई व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, क्योंकि बद्धजीव भक्ति के दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए राजी नहीं होते। वे इसे पसन्द नहीं करते, यही

उनका रोग है। साधु को भक्ति की महत्ता को समझाने का प्रशंसारहित कार्य करना होता है। कभी-कभी भक्तों के ऊपर हिंसक प्रहार कर दिया जाता है। जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया, हरिदास ठाकुर को बाईस जगह भरे बाजार में बेंत से पीटा गया और भगवान् चैतन्य के प्रमुख सहायक नित्यानन्द पर जगाई तथा माधाई द्वारा हिंसक प्रहार किया। तो भी वे सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उनका उद्देश्य पतितों का उद्धार करना था। साधु में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वह सहिष्णु होता है और पतितों के प्रति दयालु होता है। वह दयालु होता है, क्योंकि वह समस्त जीवों का शुभचिन्तक है। वह न केवल मानव समाज का शुभचिन्तक होता है, अपितु पशु-समाज का भी होता है। यहाँ पर *सर्व-देहिनाम्* कहा गया है, जो उन समस्त जीवों का सूचक है, जो भौतिक शरीर धारण किए हुए हैं। न केवल मनुष्यों को भौतिक शरीर मिला हुआ है, अपितु अन्य जीवों को, यथा कुत्तों, बिल्लियों को भौतिक शरीर प्राप्त हैं। भगवद्भक्त प्रत्येक के प्रति—चाहे कुत्ता हो, बिल्ली हो, वृक्ष हो, कुछ भी हो—दयालु होता है। वे समस्त जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे अन्ततः वे इस भवबन्धन से मोक्ष प्राप्त कर सकें। भगवान् चैतन्य के शिष्य शिवानन्द सेन ने दिव्य व्यवहार से एक कुत्ते को मोक्ष दिलाया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साधु की संगति से कुत्ते तक को मोक्ष प्राप्त हो सका, क्योंकि साधु समस्त जीवों के हित के लिए परोपकारी कार्यों में लगा रहता है। फिर भी यद्यपि साधु किसी से शत्रुता नहीं रखता, किन्तु यह संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी अनेक शत्रु हो जाते हैं।

एक शत्रु तथा मित्र में क्या अन्तर है? यह अन्तर व्यवहार में होता है। समस्त बद्धजीवों को भवबन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए ही साधु सबों के प्रति व्यवहार करता है, अतः बद्धजीवों को मोक्ष दिलाने में साधु से बढ़कर कोई मित्र नहीं हो सकता। साधु शान्त होता है और वह शान्तिपूर्वक शास्त्र के नियमों का पालन करता है। साधु का अर्थ है, वह जो शास्त्र के नियमों का पालन करे और साथ ही भगवद्भक्त भी हो। जो वास्तव में शास्त्र के नियमों का पालन करता है उसे भगवद्भक्त होना चाहिए, क्योंकि सारे शास्त्र हमें यही उपदेश देते हैं कि भगवान् के आदेशों का पालन किया जाय। अतः साधु का अर्थ है शास्त्रों के आदेशों का पालन

करने वाला तथा भगवान् का भक्त। भक्त में ये सारे गुण होते हैं। भक्त में देवताओं के सारे गुण विकसित होते हैं, किन्तु अभक्त चाहे विद्या की दृष्टि से कितना ही योग्य क्यों न हो उसमें वास्तविक सद्गुणों या उत्तम लक्षणों का अभाव रहता है।

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।

मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मेरे प्रति; अनन्येन भावेन—अनन्य भाव से, अविचलित मन से; भक्तिम्—भक्ति; कुर्वन्ति—करते हैं; ये—जो; दृढाम्—कट्टर, दृढ़; मत्-कृते—मेरे लिए; त्यक्त—त्यागे हुए; कर्माणः—कर्म; त्यक्त—त्यागे हुए; स्व-जन—सम्बन्धी जन; बान्धवाः—परिचितों, बन्धुगणों को।

ऐसा साधु अविचलित भाव से भगवान् की कट्टर भक्ति करता है। भगवान् के लिए वह संसार के अन्य समस्त सम्बन्धों यथा पारिवारिक सम्बन्ध तथा मैत्री का परित्याग कर देता है।

तात्पर्य : संन्यासी को साधु भी कहा जाता है, क्योंकि वह अपना घर, अपनी सुख सुविधाएँ, अपने मित्र, अपने सम्बन्धी तथा मित्रों एवं परिवार के प्रति अपने कर्तव्य—सब कुछ का त्याग कर देता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए सब कुछ त्याग देता है। संन्यासी सामान्यतया वैरागी जीवन बिताता है किन्तु उसकी विरक्ति तभी सफल होगी जब वह अपनी सारी शक्ति अत्यन्त संयम के साथ भगवान् की सेवा में लगा दे। अतः यहाँ पर कहा गया है—
भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्—जो व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् की सेवा में लगा रहता है और संन्यास आश्रम में रहता है, वह साधु है। साधु वह है, जिसने एकमात्र भगवान् की सेवा के लिए समाज, परिवार तथा सांसारिक मानवतावाद को तिलांजलि दे दी हो। मनुष्य जैसे ही इस संसार में जन्म लेता है, उसे जनता के प्रति, देवों के प्रति, ऋषियों के प्रति, अपने माता-पिता के प्रति, पूर्वजों तथा अन्य लोगों के प्रति अनेक प्रकार की जिम्मेदारियाँ घेर लेती हैं। जब वह परमेश्वर के निमित्त इन समस्त जिम्मेदारियों को त्याग देता है, तो उसे ऐसे परित्याग के लिए दण्ड नहीं मिलता है, किन्तु यदि इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई व्यक्ति ऐसे कर्तव्यों का परित्याग करता है, तो प्रकृति के नियमों द्वारा उसे दण्डित किया जाता है।

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मत्-आश्रयाः—मेरे विषय में; कथाः—कथाएँ; मृष्टाः—आनन्दप्रद; शृण्वन्ति—सुनते हैं; कथयन्ति—कीर्तन करते हैं;
च—तथा; तपन्ति—कष्ट झेलते हैं; विविधाः—नाना प्रकार के; तापाः—भौतिक क्लेश; न—नहीं; एतान्—उनको;
मत्-गत—मुझमें लगाये; चेतसः—अपने विचार।

निरन्तर मेरे अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के कीर्तन तथा श्रवण में संलग्न रहकर साधुगण किसी प्रकार का भौतिक कष्ट नहीं पाते, क्योंकि वे सदैव मेरी लीलाओं तथा कार्यकलापों के विचारों में ही निमग्न रहते हैं।

तात्पर्य : इस संसार में नाना प्रकार के क्लेश हैं—शारीरिक तथा मानसिक, अन्य जीवों द्वारा पहुँचाये जाने वाले और प्राकृतिक उत्पातों से मिलने वाले। किन्तु साधु ऐसी कष्टप्रद परिस्थितियों से विचलित नहीं होता, क्योंकि उसका मन सदैव कृष्णभावनामृत से भरा रहता है, फलतः वह भगवान् के कार्यकलापों के अतिरिक्त अन्य किसी की चर्चा नहीं करना चाहता। महाराज अम्बरीष भगवान् की लीलाओं के वर्णन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलते थे। वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने (भागवत ९.४.१८)। वे अपनी वाणी का सदुपयोग केवल श्रीभगवान् की महिमा-गायन में करते थे। साधुगण सदैव भगवान् या उनके भक्तों के कार्यकलापों के विषय में सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। चूँकि वे कृष्णभक्ति से पूरित रहते हैं, अतः उन्हें भौतिक क्लेशों की विस्मृति हो जाती है। सामान्य बद्धजीव भगवान् के कार्यकलापों को विस्मृत कर देने के कारण सदैव चिन्ताओं एवं भौतिक क्लेशों से पूर्ण रहते हैं। दूसरी ओर चूँकि भक्तगण सदैव भगवान् की कथाओं में लगे रहते हैं, अतः वे संसार के कष्टों को भूले रहते हैं।

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते एते—वे ही; साधवः—भक्तगण; साध्वि—हे साध्वी; सर्व—समस्त; सङ्ग—लगाव से; विवर्जिताः—मुक्त; सङ्गः—लगाव; तेषु—उनके प्रति; अथ—अतः; ते—तुम्हारे द्वारा; प्रार्थ्यः—खोजे जाने चाहिए; सङ्ग-दोष—भौतिक आसक्ति के बुरे प्रभाव; हराः—हरने वाले; हि—निस्सन्देह; ते—वे।

हे माते, हे साध्वी, ये उन महान् भक्तों के गुण हैं, जो समस्त आसक्तियों से मुक्त हैं। तुम्हें ऐसे पवित्र पुरुषों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति भौतिक आसक्ति के समस्त कुप्रभावों को हरने वाली है।

तात्पर्य : यहाँ पर कपिल मुनि अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हैं कि यदि वह भौतिक आसक्ति से मुक्त होना चाहती है, तो उसे साधुओं अर्थात् समस्त भौतिक आसक्तियों से पूर्णतया युक्त भक्तों के प्रति आसक्ति बढ़ानी होगी। *भगवद्गीता* (१५.५) में बताया गया है कि भगवद्धाम जाने का अधिकारी कौन है। *निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः*। यह उस व्यक्ति का संकेत करने वाला है, जो भौतिक सम्पत्ति के अभिमान से सर्वथा मुक्त है। भले ही कोई कितना धनवान, ऐश्वर्यवान या प्रतिष्ठावान क्यों न हो, किन्तु यदि वह आध्यात्मिक-सामराज्य, अर्थात् अपने घर भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है, तो उसे अपने भौतिक वैभव का गर्व छोड़ना होगा, क्योंकि यह एक मिथ्या स्थिति है।

यहाँ पर प्रयुक्त *मोह* शब्द इस झूठी धारणा का बोध कराता कोई है कि कोई धनी है या निर्धन है। इस संसार में यह अवधारणा कि कोई अत्यन्त धनवान है या निर्धन है अथवा भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में कोई, झूठी है, क्योंकि स्वयं यह शरीर झूठा या नाशवान है। शुद्ध जीव जो इस भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहता है, उसे पहले प्रकृति के तीन गुणों के संसर्ग से मुक्त होना चाहिए। सम्प्रति हमारी चेतना प्रकृति के तीन गुणों की संगति के कारण कलुषित हो चुकी है, फलतः *भगवद्गीता* में इसी सिद्धान्त का कथन हुआ है। कहा गया है—*जितसङ्गदोषाः*—अर्थात् मनुष्य को प्रकृति के तीन गुणों की संगति के दोष से मुक्त होना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी यहाँ पर इसी की पुष्टि हुई है—शुद्ध भक्त जो अपने को भगवद्धाम पहुँचाना चाहता है, वह प्रकृति के तीन गुणों के संसर्ग से भी मुक्त हो जाता है। हमें ऐसे ही भक्तों की संगति ढूँढनी चाहिए। इसी कारण से हमने अन्तर्राष्ट्रिय कृष्णभावनामृत संघ का शुभारम्भ किया है। मानव समाज में विशिष्ट प्रकार की शिक्षा या चेतना (जागृति) उत्पन्न करने

के लिए अनेक व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा अन्य संघटन हैं, किन्तु ऐसा एक भी संघटन नहीं है, जो समस्त भौतिक संगति (संसर्ग) से मुक्त होने में सहायक हो। यदि कोई ऐसी अवस्था पर पहुँच चुका है जहाँ वह भौतिक कल्मष से मुक्त होना चाहता है उसे भक्तों की संगति ढूँढनी चाहिए जहाँ एकमात्र कृष्णभक्ति का अनुशीलन होता हो। इससे मनुष्य समस्त भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकता है।

चूँकि भक्त समस्त दोषयुक्त भौतिक संगति से मुक्त हो जाता है, अतः संसार के क्लेश उसे प्रभावित नहीं कर पाते। यद्यपि वह भौतिक जगत में रहता प्रतीत होता है, किन्तु संसार के क्लेश उसे छू नहीं पाते। ऐसा कैसे सम्भव है? बिल्ली के कार्यों के विषय में एक सुन्दर सा उदाहरण है। बिल्ली अपने बच्चों को अपने मुँह में दबाकर ले जाती है और जब वह चूहों को मारती है, तो उस सौगात को भी मुँह में ही ले जाती है। इस प्रकार दोनों ही बिल्ली के मुँह से ले जाये जाते हैं, किन्तु उनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। बिल्ली के बच्चे बिल्ली के मुँह में सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु जब वह चूहे को ले जाती है, तो चूहे को मृत्यु के भय का अनुभव होता है। इसी प्रकार जो साधु हैं अथवा जो भगवान् की दिव्य सेवा में कृष्णभक्ति में संलग्न रहते हैं उन्हें भौतिक क्लेशों के कल्मष का अनुभव नहीं होता, किन्तु जो कृष्णभक्त नहीं होते उन्हें वास्तव में सांसारिक क्लेशों का अनुभव होता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी पुरुषों का संग त्यागकर कृष्णभक्ति में लगे हुए व्यक्तियों की संगति खोजे। इससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकेगी। उनके शब्दों तथा उपदेशों से उसके भवबन्धन कट जाएँगे।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्रपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सताम्—शुद्ध भक्तों की; प्रसङ्गात्—संगति से; मम—मेरे; वीर्य—अलौकिक कार्यों; संविदः—चर्चा से; भवन्ति—हो जाते हैं; हृत्—हृदय को; कर्ण—कान को; रस-अयनाः—अच्छी लगने वाली; कथाः—कथाएँ; तत्—उसके;

जोषणात्—अनुशीलन से, सेवन से; आशु—तुरन्त; अपवर्ग—मोक्ष के; वर्त्मनि—मार्ग पर; श्रद्धा—दृढ़ विश्वास; रतिः—आकर्षण; भक्तिः—भक्ति; अनुक्रमिष्यति—क्रमशः आएँगी।

शुद्ध भक्तों की संगति में श्रीभगवान् की लीलाओं तथा उनके कार्यकलापों की चर्चा कान तथा हृदय को अत्यधिक रोचक एवं प्रसन्न करने वाली होती है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन में मनुष्य धीरे-धीरे मोक्ष मार्ग में अग्रसर होता है, तत्पश्चात् मुक्त हो जाता है और उसका आकर्षण स्थिर हो जाता है। तब असली समर्पण तथा भक्तियोग का शुभारम्भ होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में अग्रसर होने की विधि वर्णित है। पहली बात है कि वह ऐसे पुरुषों की संगति खोजे जो कृष्णभक्त हैं और भक्तिमय सेवा में लगे हुए हैं। ऐसी संगति के बिना प्रगति नहीं हो सकती। मात्र कोरे ज्ञान या अध्ययन से यथेष्ट प्रगति सम्भव नहीं। मनुष्य को भौतिकतवादी पुरुषों की संगति त्याग कर भक्तों की संगति खोजनी चाहिए, क्योंकि भक्तों की संगति के बिना भगवान् के कार्यकलापों को नहीं समझा जा सकता। सामान्य रूप से लोग परम सत्य के निर्गुण पक्ष के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। भक्तों की संगति न करने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि परम सत्य भी एक पुरुष हो सकता है, जिसके अपने कार्यकलाप हैं। यह अत्यन्त कठिन विषय है और जब तक परम सत्य विषयक व्यक्तिगत जानकारी न हो तब तक भक्ति का कोई अर्थ नहीं निकलता। किसी निराकार की भक्ति या सेवा नहीं की जाती। सेवा तो व्यक्ति की होती है। अभक्तगण *श्रीमद्भागवत* या अन्य किसी वैदिक साहित्य में वर्णित भगवान् के कार्यकलापों को पढ़कर कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकते; वे सोचते हैं कि ये कार्यकलाप काल्पनिक कथाएँ हैं, क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विषय में सही ढंग से शिक्षा नहीं दी जाती। भगवान् के कार्य-कलापों को समझने के लिए भक्तों की संगति करनी आवश्यक है और जब ऐसी संगति के फलस्वरूप वह मनन करता है और भगवान् के कार्यकलापों को समझने का प्रयत्न करता है, तो मोक्ष का मार्ग खुल जाता है और वह मुक्त हो जाता है। जिस व्यक्ति की भगवान् में दृढ़ आस्था होती है, वह स्थिर हो जाता है और भगवान् तथा भक्तों की संगति के लिए उसका आकर्षण बढ़ जाता है। भक्तों की संगति

का अर्थ है भगवान् की संगति। जो भक्त यह संगति करता है उसमें भगवान् की सेवा करने की चेतना जगती है और फिर भक्तियोग के दिव्य पद में स्थित होकर वह धीरे-धीरे सिद्ध हो जाता है।

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्ति से; पुमान्—मनुष्य; जात-विरागः—अरुचि उत्पन्न होने पर; ऐन्द्रियात्—इन्द्रियतृप्ति के लिए; दृष्ट—(इस संसार में) देखा हुआ; श्रुतात्—(अगले संसार में) सुना हुआ; मत्-रचन—सृष्टि के मेरे कार्यकलाप इत्यादि; अनुचिन्तया—निरन्तर चिन्तन करने से; चित्तस्य—मन का; यत्तः—लगा हुआ; ग्रहणे—नियन्त्रण में; योग-युक्तः—भक्ति योग में स्थित; यतिष्यते—प्रयास करेगा; ऋजुभिः—सरल; योग-मार्गैः—योग की विधियों के द्वारा।

इस प्रकार भक्तों की संगति में सचेत होकर भक्ति करते हुए भगवान् के कार्यकलापों के विषय में निरन्तर सोचते रहने से मनुष्य को इस लोक में तथा परलोक में इन्द्रियतृप्ति के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। कृष्णभावनामृत की यह विधि योग की सरलतम विधि है। जब मनुष्य भक्तियोग के मार्ग में सही-सही स्थित हो जाता है, तो यह अपने चित्त (मन) को नियन्त्रित करने में सक्षम होता है।

तात्पर्य : सभी शास्त्रों में लोगों को पवित्र ढंग से कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है, जिससे वे इन्द्रियतृप्ति का सुख भोग न केवल इसी जीवन में अपितु अगले जीवन में भी कर सकें। उदाहरणार्थ, यदि कोई पुण्यकर्म करता है, तो उसे स्वर्ग का भागी बताया जाता है। किन्तु भक्तों की संगति में रहनेवाला एक भक्त भगवान् के कार्यकलापों के विषय में चिन्तन को—किस तरह उन्होंने सृष्टि उत्पन्न की, किस तरह इसका पालन कर रहे हैं और किस तरह इस सृष्टि का लय होता है और किस प्रकार वैकुण्ठ में भगवान् की लीलाएँ चलती रहती हैं—वरीयता (महत्त्व) देता है। भगवान् के इन कार्यकलापों का वर्णन करने वाला पूरा का पूरा साहित्य है—विशेष रूप से भगवद्गीता, ब्रह्म-संहिता तथा श्रीमद्भागवत। निष्ठावान भक्त जो भक्तों की संगति करता है, उसे भगवान् की लीलाओं को सुनने तथा उनके विषय में सोचने का

सुअवसर प्राप्त होता है, जिसका फल यह होता है कि उसे इस संसार में, स्वर्ग में या अन्य लोकों में तथाकथित सुख के प्रति अरुचि होने लगती है। भक्तगण की एकमात्र इच्छा रहती है कि उन्हें भगवान् की साक्षात् संगति प्राप्त हो; उन्हें क्षणिक तथाकथित सुख के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता। जो योग युक्त है, उसकी यह दशा है। योग युक्त मनुष्य इस संसार या उस संसार के संमोह से विचलित नहीं होता, उसे आध्यात्मिक ज्ञान या आध्यात्मिक स्थिति से ही सरोकार रहता है। यह अलौकिक स्थिति सबसे सहज विधि द्वारा अर्थात् भक्तियोग द्वारा सरलता से प्राप्त की जा सकती है। ऋजुभिर्योगमार्गः। यहाँ पर प्रयुक्त ऋजुभिः शब्द अत्यन्त उपयुक्त है, जिसका अर्थ है “अत्यन्त सरल।” योगमार्ग की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु भगवद्भक्ति की विधि सरलतम है; यह न केवल सरलतम विधि है, अपितु इसका परिणाम भी अलौकिक है। अतः हर एक को कृष्णभक्ति की इस विधि को ग्रहण करना चाहिए और जीवन की सर्वोच्च पूर्णता तक पहुँचना चाहिए।

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां

ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।

योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या

मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

असेवया—सेवा न करते हुए; अयम्—यह पुरुष; प्रकृतेः गुणानाम्—प्रकृति के गुणों का; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैराग्य—वैराग्य से; विजृम्भितेन—विकसित; योगेन—योग के अभ्यास से; मयि—मुझको; अर्पितया—अर्पित, दृढ़ रहकर; च—तथा; भक्त्या—भक्ति से; माम्—मुझको; प्रत्यक्-आत्मानम्—परम सत्य; इह—इसी जीवन में; अवरुन्धे—प्राप्त कर लेता है।

इस तरह प्रकृति के गुणों की सेवा में न लगकर, अपितु कृष्णभक्ति विकसित करके, वैराग्य युक्त ज्ञान प्राप्त करके तथा योग के अभ्यास से, जिसमें मनुष्य का मन सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्तिमय सेवा में स्थिर रहता है, मनुष्य इसी जीवन में मेरा साहचर्य (संगति) प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मैं परम पुरुष अर्थात् परम सत्य हूँ।

तात्पर्य : जब मनुष्य भक्तियोग की नौ भिन्न-भिन्न विधियों में यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, प्रार्थना तथा आत्मनिवेदन इत्यादि में लगा रहता है, तो स्वाभाविक रूप से उसे प्रकृति के

तीनों गुणों की सेवा में लगने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मनुष्य इनमें से किसी एक में, दो में, तीन में या सबों में लग सकता है। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक सेवा में ठीक से लगा नहीं रहेगा, तब तक भौतिक सेवा के बन्धन से निकल पाना सम्भव नहीं है। अतः जो भक्त नहीं हैं वे तथाकथित मानवोपयोगी या परोपकार सम्बन्धी कार्यों में—यथा अस्पताल या दातव्य संस्थान खोलने में रुचि लेते हैं। निस्सन्देह ये अच्छे कार्य हैं, क्योंकि ये पुण्यकर्म हैं और इनका फल इतना ही होता है कि कर्ता को इस जीवन में या अगले जीवन में इन्द्रियतृप्ति का कुछ अवसर मिल सकता है। किन्तु भक्ति तो इन्द्रियतृप्ति के घेरे से बाहर रहती है। यह नितान्त आध्यात्मिक कर्म है। जब कोई भक्तियोग के आध्यात्मिक कर्म में लगा रहता है, तो स्वाभाविक है कि उसे इन्द्रियतृप्ति करने वाले कार्यों में लगने का अवसर ही नहीं मिलता। कृष्णभावना सम्बन्धी कार्यकलाप अन्धाधुन्ध नहीं किये जाते वरन् ज्ञान तथा वैराग्य की पूरी-पूरी जानकारी से किये जाते हैं। जिस योगाभ्यास में मन भगवान् की भक्ति में निरन्तर स्थिर रहता है उससे इसी जीवन में मुक्ति मिल जाती है। जो व्यक्ति ऐसे कर्म करता है, वह भगवान् का सामीप्य पाता है। अतः भगवान् चैतन्य ने भगवान् की लीलाओं के विषय में सिद्ध भक्तों से ही श्रवण विधि की अनुमति दी फिर श्रोता चाहे जिसी भी श्रेणी का हो। यदि वह विनीत होकर सिद्ध पुरुष से भगवान् के कार्यकलापों के विषय में श्रवण करता है, तो वह उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को भी जीतने में समर्थ होगा, जो अन्य किसी विधि से नहीं जीते जा सकते। आत्म-साक्षात्कार के लिए श्रवण या भक्तों की संगति सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा ।

यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; काचित्—क्या; त्वयि—तुमको; उचिता—उचित; भक्तिः—भक्ति; कीदृशी—किस प्रकार की; मम—मेरे द्वारा; गो-चरा—अभ्यास की जाने के लिए उपयुक्त; यया—जिससे; पदम्—पाँव; ते—तुम्हारे; निर्वाणम्—मुक्ति; अञ्जसा—तुरन्त; अन्वाश्नवै—प्राप्त करूँगी; अहम्—मैं।

भगवान् का यह वचन सुनकर देवहूति ने पूछा : मैं किस प्रकार के भक्तियोग का

विकास और अभ्यास करूँ जिससे मुझे आपके चरणकमलों की सेवा तत्काल एवं सरलता से प्राप्त हो सके ?

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि किसी को भी भगवान् की सेवा करने से रोका नहीं जा सकता। भले ही वह स्त्री हो या श्रमिक या वणिक, यदि वह भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाये रखता है, तो उसे परम गति की प्राप्ति होती है और वह भगवान् के धाम को वापस जाता है। विभिन्न प्रकार के भक्तों के लिए सर्वोपयुक्त भक्ति का निश्चय गुरु की कृपा से निष्पन्न होता है।

यो योगो भगवद्वाणो निर्वाणात्मस्त्वयोदितः ।

कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; योगः—योग विधि; भगवत्-बाणः—भगवान् को लक्ष्य की गई; निर्वाण-आत्मन्—हे निर्वाणस्वरूप; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितः—कही गई; कीदृशः—किस तरह की; कति—कितनी; च—तथा; अङ्गानि—शाखाएँ; यतः—जिससे; तत्त्व—सत्य का; अवबोधनम्—ज्ञान।

आपने जैसा बताया है कि योग पद्धति का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्राप्त करने और सांसारिक अस्तित्व (माया) के पूर्णतया विनाश के लिए है, तो कृपया मुझे उस योग पद्धति की प्रकृति बतलाएँ। उस अलौकिक योग को यथार्थ रूप में कितनी विधियों से समझा जा सकता है ?

तात्पर्य : योग पद्धति के कई प्रकार हैं जिनका लक्ष्य परम सत्य की विभिन्न अवस्थाओं को जानना है। ज्ञानयोग का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्मतेज है और हठयोग का लक्ष्य घट-घट वासी परमात्मा है, जबकि श्रवण, कीर्तन आदि नौ भिन्न विधियों से सम्पन्न होने वाले भक्तियोग का लक्ष्य परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार है। आत्म-साक्षात्कार की भी विभिन्न विधियाँ हैं। किन्तु देवहूति भक्तियोग का विशेष उल्लेख करती है, जिसे भगवान् पहले ही समझा चुके थे। भक्तियोग पद्धति के विभिन्न अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, अर्चन, सेवन, आज्ञा पालन (दास्य), उनसे मित्रता करना (सख्य) तथा अन्ततः भगवान् की सेवा में सब कुछ अर्पित करना (आत्म निवेदन)। इस श्लोक में *निर्वाणात्मन्* शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भक्ति विधि

को स्वीकार किये बिना इस संसार के आवागमन से छूटा नहीं जा सकता। जहाँ तक ज्ञानियों का सम्बन्ध है वे ज्ञानयोग में रुचि रखते हैं, किन्तु यदि कोई संयम का पालन करता हुआ ब्रह्मतेज तक ऊपर उठ जाय तो भी इस संसार में पुनः गिर जाने की सम्भावना बनी रहती है। अतः वास्तव में ज्ञानयोग से सांसारिक अस्तित्व का अन्त नहीं होता। इसी प्रकार हठयोग में, जिसका लक्ष्य अन्तर्यामी परमात्मा को प्राप्त करना होता है, यह अनुभव किया गया है कि विश्वामित्र जैसे अनेक योगी भी नीचे आ गिरते हैं। किन्तु भक्ति योगी, एक बार भगवान् के पास पहुँच कर फिर कभी इस संसार में वापस नहीं आते जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। *यद् गत्वा न निवर्तन्ते*—मनुष्य जाकर फिर कभी नहीं लौटता। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—इस शरीर का परित्याग करने पर उसे शरीर ग्रहण करने नहीं आना पड़ता। *निर्वाण* से आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। आत्मा चिर विद्यमान है। अतः *निर्वाण* का अर्थ है अपने संसार की समाप्ति करना जिसका अर्थ है भगवान् के धाम वापस जाना।

कभी-कभी लोग पूछते हैं कि जीवात्मा स्वर्ग से इस लोक में किस तरह गिर जाता है? इसका उत्तर यहाँ मिलता है। जब तक मनुष्य भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में वैकुण्ठलोक में नहीं पहुँच जाता तब तक उसके नीचे गिरने का भय बना रहता है चाहे वह निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार से हो या ध्यान की समाधि-अवस्था से हो। इस श्लोक का एक अन्य शब्द *भगवद्-बाणः* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *बाणः* का अर्थ है “तीर”। भक्तियोग तीर के समान है, जिसका लक्ष्य श्रीभगवान् होता है। भक्तियोग पद्धति कभी किसी को निर्गुण ब्रह्मतेज की ओर या परमात्मा-साक्षात्कार की ओर जाने को नहीं कहती। यह बाण (तीर) इतना तीक्ष्ण तथा वेगवान् होता है कि यह निर्गुण ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के क्षेत्रों को बेधता हुआ सीधे भगवान् तक पहुँचता है।

तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरि ।

सुखं बुद्धयेय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत् एतत्—वही; मे—मुझको; विजानीहि—कृपया समझावें; यथा—जिससे; अहम्—मैं; मन्द—कुन्द; धीः—बुद्धिवाली; हरे—हे भगवान्; सुखम्—सरलतापूर्वक; बुद्धयेय—समझ सकूँ; दुर्बोधम्—न समझ में आने वाली; योषा—स्त्री; भवत्-अनुग्रहात्—आपके अनुग्रह से।

मेरे पुत्र कपिल, आखिर मैं एक स्त्री हूँ। परम सत्य को समझ पाना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि मेरी बुद्धि इतनी कुशाग्र नहीं है। यद्यपि मैं इतनी बुद्धिमान नहीं हूँ। किन्तु तो भी, यदि आप मुझे कृपा करके समझाएँगे तो मैं उसे समझ कर दिव्य सुख का अनुभव कर सकूँगी।

तात्पर्य : तत्त्वज्ञान सामान्य अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों की समझ में जल्दी नहीं चढ़ता, किन्तु यदि गुरु अपने शिष्य पर कृपालु हो तो फिर शिष्य चाहे कितना ही मूर्ख क्यों न हो, गुरु की दैवी कृपा से सब कुछ प्रकट हो जाता है। अतः विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद्* अर्थात् गुरु की कृपा से *भगवत्प्रसादः* अर्थात् भगवान् की कृपा प्रकट होती है। देवहूति ने अपने महान् पुत्र से उसके प्रति कृपालु होने के लिए प्रार्थना की, क्योंकि वह अल्पबुद्धि स्त्री थी और साथ ही उसकी माता थी। कपिलदेव की कृपा से परम सत्य को समझना उसके लिए सर्वथा सम्भव हो पाया, यद्यपि वह विषय सामान्य व्यक्तियों के लिए, विशेष रूप से स्त्रियों के लिए, अत्यन्त जटिल है।

मैत्रेय उवाच
विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति साङ्ख्यं
प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विदित्वा—जानकर; अर्थम्—अभिप्राय; कपिलः—कपिल; मातुः—अपनी माता का; इत्थम्—इस प्रकार; जात-स्नेहः—दया आ गई; यत्र—उस पर; तन्वा—अपने शरीर से; अभिजातः—उत्पन्न; तत्त्व-आम्नायम्—शिष्य-परम्परा से प्राप्त सत्य; यत्—जो; प्रवदन्ति—पुकारते हैं; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन; प्रोवाच—वर्णन किया; वै—वास्तव में; भक्ति—भक्ति; वितान—विस्तार; योगम्—योग।

श्रीमैत्रेय ने कहा : अपनी माता का कथन सुनकर कपिल उसका प्रयोजन समझ गये और उसके प्रति दयार्द्र हो उठे, क्योंकि उन्होंने उसके शरीर से जन्म लिया था। उन्होंने सांख्य दर्शन का वर्णन किया जो शिष्य-परम्परा से प्राप्त भक्ति तथा योगिक साक्षात्कार

का एक मिलाजुला रूप है।

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; देवानाम्—इन्द्रियों के प्रमुख देवों या इन्द्रियों का; गुण-लिङ्गानाम्—जो विषयों को पहचानते हैं; आनुश्रविक—शास्त्रों के अनुसार; कर्मणाम्—कौन सा कर्म; सत्त्वे—मन को या भगवान् को; एव—केवल; एक-मनसः—अविभाजित मन वाले व्यक्ति का; वृत्तिः—झुकाव; स्वाभाविकी—प्राकृतिक; तु—वास्तव में; या—जो; अनिमित्ता—निमित्तरहित; भागवती—भगवान् के प्रति; भक्तिः—भक्ति; सिद्धेः—मोक्ष की अपेक्षा; गरीयसी—श्रेयस्कर।

भगवान् कपिल ने कहा : ये इन्द्रियाँ दैवों की प्रतीकात्मक प्रतिनिधि हैं और इनका स्वाभाविक झुकाव वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करने में है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ देवताओं की प्रतीक हैं, उसी प्रकार मन भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रतिनिधि है। मन का प्राकृतिक कार्य सेवा करना है। जब यह सेवा-भाव किसी हेतु के बिना श्रीभगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो यह सिद्धि से कहीं बढ़कर है।

तात्पर्य : जीवात्मा की इन्द्रियाँ सदैव किसी न किसी वृत्ति में लगी रहती हैं, चाहे वे वेदविहित कार्य हों या भौतिक कार्य हों। इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति है कि वे किसी न किसी कार्य में लगी रहती हैं और मन इन इन्द्रियों का केन्द्र बिन्दु है। मन वास्तव में इन्द्रियों का नायक है, इसीलिए यह सत्त्व कहलाता है। इसी प्रकार सारे देवता चाहे वे सूर्यदेव हों, चन्द्रदेव, इन्द्र या अन्य देवता हों—जो इस संसार के कर्मों में लगे हुए हैं, उन सबके नायक श्रीभगवान् हैं।

वैदिक साहित्य में बताया गया है कि देवता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं। हमारी इन्द्रियाँ विभिन्न देवताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और मन भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है। मन द्वारा पथप्रदर्शित सारी इन्द्रियाँ देवताओं के वशीभूत होकर कार्य करती हैं। जब यह सेवा श्रीभगवान् के प्रति लक्षित होती है, तो इन्द्रियाँ अपनी सहज स्थिति में होती हैं। भगवान् को हृषीकेश कहा जाता है, क्योंकि वे ही इन्द्रियों के वास्तविक स्वामी हैं।

इन्द्रियों तथा मन की सहज प्रवृत्ति कार्य करने की है, किन्तु जब वे भौतिक रूप से क्लुषित हो जाती हैं, तो वे किसी भौतिक लाभ या देवताओं की सेवा के लिए कार्य करती हैं, जबकि वे श्रीभगवान् की सेवा के निमित्त होते हैं। इन्द्रियाँ हृषीक कहलाती हैं और भगवान् हृषीकेश। इस तरह समस्त इन्द्रियों की अप्रत्यक्ष प्रवृत्ति परमेश्वर की सेवा करने की ओर रहती है। यही भक्ति है।

कपिलदेव ने कहा कि जब सारी इन्द्रियाँ किसी भौतिक लाभ या अन्य स्वार्थ की इच्छा के बिना भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, तो मनुष्य भक्तियोग के पद पर स्थित होता है। सेवा की यह भावना सिद्धि से बढ़कर है। भगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति, अर्थात् मुक्ति की अपेक्षा भक्ति अधिक उत्तम दिव्य स्थिति है। इस तरह भक्ति मुक्ति के बाद की अवस्था है। बिना मुक्त हुए कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त नहीं कर सकता। जब इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में अथवा वेदविहित कार्यों में लगी रहती हैं, तो इसका एक न एक कारण रहता है, किन्तु जब वही इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी होती हैं, तो कोई हेतु नहीं रहता (अहैतुकी)। इसे अनिमित्ता कहते हैं और यह मन की सहज प्रवृत्ति है। निष्कर्ष यह निकला कि जब मन वैदिक आदेशों या भौतिक कार्यकलापों से विचलित हुए बिना कृष्णभावनामृत अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्तिमय सेवा में पूर्णतया संलग्न हो जाता है, तो यह स्थिति भवबन्धन से मुक्ति की सर्वोत्कृष्ट कामना से भी बढ़कर है।

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

जरयति—पचा देती है; आशु—तुरन्त; या—जो; कोशम्—सूक्ष्म शरीर को; निगीर्णम्—खाई वस्तुओं को; अनलः—अग्नि; यथा—जिस प्रकार।

भक्ति जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर को बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के उसी प्रकार विलय कर देती है, जिस प्रकार जठराग्नि खाये हुए भोजन को पचा देती है।

तात्पर्य : मुक्ति की अपेक्षा भक्ति उच्चतर स्थिति में होती है, क्योंकि भक्ति द्वारा भवबन्धन से मुक्ति पाने के मानवी प्रयास की स्वतः पूर्ति हो जाती है। यहाँ जठराग्नि का उदाहरण दिया

गया है, जो हमारे खाये गये सारे भोजन को पचा देती है। यदि पाचनशक्ति पर्याप्त हो तो हम चाहे जो भी खाएँ, उसे जठराग्नि पचा देती है। इसी तरह भक्त को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता। श्रीभगवान् की यही सेवा उसकी मुक्ति की विधि भी है, क्योंकि अपने को भगवान् की सेवा में लगाना अपने आपको भवबन्धन से मुक्त करना है। श्री बिल्वमंगल ठाकुर ने इस स्थिति की अच्छे ढंग से व्याख्या की है। वे कहते हैं, “यदि परमेश्वर के चरणकमलों के प्रति हमारी अटूट भक्ति है, तो मुक्ति मेरी दासी है। यह मुक्ति रूपी दासी वह सब करने के लिए सदा सन्नद्ध रहती है, जो जो मैं कहता हूँ।”

भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या ही नहीं है। उसे किसी पृथक् प्रयास के बिना ही मुक्ति मिल जाती है। अतः भक्ति मुक्ति अर्थात् निर्विशेषवादी स्थिति से श्रेयस्कर है। निर्विशेषवादी मुक्ति प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु भक्त मात्र भक्तियोग में, विशेष रूप से हरे कृष्णहरे राम हरे हरे, महामन्त्र के कीर्तन में लगकर तथा श्रीभगवान् को अर्पित भोग के बचे हुए भाग से भोजन ग्रहण करके अपनी जीभ पर तुरंत नियंत्रण पाकर इसे प्राप्त कर लेता है। जीभ पर नियन्त्रण होते ही अन्य सारी इन्द्रियों पर स्वतः ही नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों का नियन्त्रण (निग्रह) ही योग की पूर्णता है और ज्योंही मनुष्य अपने आपको भगवान् की सेवा में लगा देता है उसकी मुक्ति तुरन्त हो जाती है। कपिल देव इसकी पुष्टि कर रहे हैं कि भक्ति सिद्धि (मुक्ति) से श्रेयष्कर है।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
 मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
 येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
 सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एक-आत्मताम्—एकाकार होना; मे—मेरा; स्पृहयन्ति—इच्छा करते हैं; केचित्—कोई भी; मत्-पाद-सेवा—मेरे चरणकमलों की सेवा में; अभिरताः—लगे हुए; मत्-ईहाः—मुझे प्राप्त करने का प्रयास करते हुए; ये—जो; अन्योन्यतः—परस्पर; भागवताः—शुद्ध भक्त; प्रसज्य—जुट कर; सभाजयन्ते—गुणगान करते हैं; मम—मेरे; पौरुषाणि—पराक्रमों का।

जो भक्ति-कार्यो में संलग्न है और जो मेरे चरणकमलों की सेवा में निरन्तर लगा

रहता है, ऐसा शुद्ध भक्त कभी भी मुझसे तदाकार (एकात्म) होना नहीं चाहता। ऐसा भक्त जो अविचलित होकर लगा रहता है सदैव मेरी लीलाओं तथा कार्य-कलापों का गुणगान करता है।

तात्पर्य : शास्त्रों में पाँच प्रकार की मुक्ति बताई गई है। इनमें से एक है भगवान् से तादात्म्य अथवा अपने व्यक्तित्व को त्याग कर परम आत्मा में विलीन होना। यह *एकात्मताम्* कहलाती है। भक्त कभी भी ऐसी मुक्ति स्वीकार नहीं करता। मुक्ति के अन्य चार प्रकार हैं— वैकुण्ठ को जाना, भगवान् की संगति करना, भगवान् का सा ऐश्वर्य प्राप्त करना तथा भगवान् जैसा स्वरूप प्राप्त करना। जैसाकि कपिल मुनि बतलाएँगे, भक्त इन पाँचों में से किसी भी मुक्ति की इच्छा नहीं करता। वह भगवान् से तदाकार होने के विचार को नारकीय मानकर घृणा करता है। भगवान् चैतन्य के परम भक्त श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है— *कैवल्यं नरकायते* अर्थात् परमेश्वर के साथ एकाकार होने का सुख, जिसकी कामना मायावादी करते हैं, नारकीय मानी जाती है। यह एकात्मता शुद्ध भक्तों के लिए नहीं है।

ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो सोचते हैं कि बद्ध अवस्था में हम भगवान् की पूजा करते हैं, किन्तु अन्ततः वह कोई पुरुष तो है नहीं। उनका कहना है कि चूँकि परमेश्वर निराकार है, अतः काम चलाने के लिए हम निराकार परमेश्वर को साकार रूप प्रदान कर सकते हैं, किन्तु मुक्त होते ही पूजा बन्द हो जाती है। यह सिद्धान्त मायावादी दर्शन द्वारा रखा जाता है। वस्तुतः निर्विशेषवादी परम पुरुष में नहीं, अपितु उनकी शारीरिक ज्योति, ब्रह्मज्योति, में समाहित होते हैं। यद्यपि यह ब्रह्मज्योति उनके शरीर से भिन्न नहीं है, किन्तु शुद्ध भक्त इस प्रकार के एकाकार (एकात्मता) को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भक्तगण भगवान् में तदाकार होने के तथाकथित आनन्द से अधिक बड़े आनन्द में लीन होना चाहते हैं। सबसे बड़ा आनन्द भगवान् की सेवा करना है। भक्त निरन्तर यही सोचते रहते हैं कि भगवान् की किस प्रकार सेवा की जाय, वे संसार की बड़ी से बड़ी बाधाओं के होते हुए भी ऐसे साधन जुटाते रहते हैं जिससे भगवान् की सेवा की जा सके।

भगवान् की लीलाओं के वर्णन को मायावादी लोग कहानियाँ मानते हैं, किन्तु वास्तव में ये कहानियाँ नहीं हैं, ये ऐतिहासिक तथ्य हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की लीलाओं के वर्णनों को कहानियाँ न मानकर परम सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं। *मम पौरुषाणि* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तगण भगवान् के इन कार्यकलापों का गुणगान करने में अत्यधिक अनुराग रखते हैं, किन्तु मायावादी इन कार्यकलापों के विषय में सोच भी नहीं पाते। इनके अनुसार परम सत्य निराकार है। बिना साकार हुए, कर्म कैसा? निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में वर्णित कार्यकलापों को कपोलकल्पित कहानियों के रूप में लेते हैं, फलतः वे बेहूदे ढंग से इनकी व्याख्या करते हैं। उन्हें भगवान् की अवधात्मा का कोई भान नहीं होता और भोली-भाली जनता को गुमराह करने के उद्देश्य से वे भ्रमपूर्ण व्याख्या करते हैं। मायावाद-दर्शन के कार्यकलाप जनता के लिए अत्यन्त घातक हैं, इसीलिए भगवान् चैतन्य ने हमें आगाह किया कि किसी मायावादी से भूलकर कोई शास्त्र न सुने; वे समग्र प्रक्रिया को भ्रष्ट कर देंगे और जो व्यक्ति उन्हें सुनेगा वह परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए भक्ति मार्ग पर कभी भी नहीं चल सकेगा या फिर दीर्घकाल के बाद ही भक्तिमार्ग पा सकेगा।

कपिल मुनि ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति के कार्यकलाप मुक्ति से बढ़कर हैं। इसे पञ्चम पुरुषार्थ कहा जाता है। सामान्यतया लोग धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं और वे इस विचार से कर्म करते हैं कि वे परमेश्वर से एकाकार होने जा रहे हैं (मुक्ति)। किन्तु भक्ति तो इन समस्त कार्यकलापों से बढ़ कर है। फलतः *श्रीमद्भागवत* का प्रारम्भ ही इसी कथन से होता है कि *भागवत* में सभी प्रकार की छद्म धार्मिकता का उन्मूलन किया गया है। *भागवत* में उन समस्त अनुष्ठानों का बहिष्कार हुआ है, जो आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए या कि इन्द्रियतृप्ति से हताश होकर परमेश्वर से तादात्म्य से सम्बन्धित हैं। *भागवत* विशेषतः उन भक्तों के लिए है, जो निरन्तर कृष्णभक्ति में या भगवान् के कार्यकलापों में लगे रहते हैं और नित्य ही इन दिव्य कार्यकलापों का गुणागन करते रहते हैं। शुद्ध भक्त वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरावासी भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की पूजा करते हैं, क्योंकि

श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में इनका उल्लेख है। मायावादी दार्शनिक इन्हें कहानियाँ कहकर इनका निषेध कर देते हैं, किन्तु वस्तुतः ये महान् तथा पूज्य विषय हैं और भक्तों द्वारा ही आस्वाद्य हैं। एक मायावादी तथा एक भक्त में यही अन्तर है।

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः

प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।

रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि

साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पश्यन्ति—देखते हैं; ते—वे; मे—मेरा; रुचिराणि—सुन्दर; अम्ब—हे माता; सन्तः—भक्तजन; प्रसन्न—हँसता हुआ; वक्त्र—मुखमंडल; अरुण—प्रभातकालीन सूर्य के समान; लोचनानि—नेत्र; रूपाणि—रूप; दिव्यानि—दिव्य; वर-प्रदानि—वरदायक; साकम्—मेरे साथ; वाचम्—शब्द; स्पृहणीयाम्—अनुकूल; वदन्ति—कहते हैं।

हे माता, मेरे भक्त नित्य ही उदीयमान प्रभात के सूर्य सदृश नेत्रों से युक्त मेरे प्रसन्न मुखमण्डल वाले रूप का अवलोकन करते हैं। वे मेरे विभिन्न दिव्य मित्रवत रूपों को देखना चाहते हैं और साथ ही मुझसे अनुकूल सम्भाषण करना चाहते हैं।

तात्पर्य : मायावादी तथा नास्तिक लोग भगवान् के मन्दिर में रखे उनके श्रीविग्रहों के रूपों को मूर्ति के रूप में मानते हैं, किन्तु भक्तगण मूर्तियों की पूजा नहीं करते। वे तो भगवान् के अर्चा अवतार के रूप में उनकी प्रत्यक्ष पूजा करते हैं। अर्चा से उस रूप का बोध होता है, जिसे हम वर्तमान परिस्थिति में पूज सकते हैं। वस्तुतः वर्तमान अवस्था में ईश्वर को उनके आध्यात्मिक रूप में देख पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारे नेत्र तथा इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रूप की कल्पना नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि हम आत्मा के आध्यात्मिक रूप को भी नहीं देख सकते। जब मनुष्य मरता है, तो हम यह नहीं देख पाते कि आध्यात्मिक रूप किस तरह शरीर को त्यागता है। यह हमारी इन्द्रियों का दोष है। हम अपनी इन्द्रियों से देख पाएँ, इस हेतु भगवान् उपयुक्त रूप ग्रहण करते हैं जिसे अर्चा-विग्रह कहते हैं। कभी-कभी अर्चा-विग्रह अर्चा-अवतार कहलाता है, जो भगवान् से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अनेक अवतार ग्रहण करते हैं उसी तरह वह मिट्टी, लकड़ी, धातु, रत्न जैसे पदार्थ के रूपों को ग्रहण करते हैं।

भगवान् के स्वरूप अंकन के लिए शास्त्रों में अनेक आदेश मिलते हैं। ये स्वरूप भौतिक नहीं हैं। यदि ईश्वर सर्वव्यापी है, तो वह भौतिक तत्त्वों में भी विद्यमान है। इस विषय में कोई आशंका नहीं है। किन्तु नास्तिक उसके उल्टा ही सोचते हैं। यद्यपि वे उपदेश देते हैं कि हर वस्तु ईश्वर है, किन्तु जब वे मन्दिर में जाते हैं और भगवान् के रूप को देखते हैं, तो वे उसे ईश्वर मानने से मुकर जाते हैं। उनके ही सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु ईश्वर है, तो फिर यह *अर्चा-विग्रह* ईश्वर क्यों नहीं? वास्तव में उन्हें ईश्वर का कोई बोध नहीं है। किन्तु भक्तों की दृष्टि इनसे भिन्न होती है, उनकी दृष्टि ईश्वरप्रेम से सिक्त रहती है। ईश्वर को उनके विभिन्न रूपों में देखते ही वे प्रेमाभिभूत हो जाते हैं, क्योंकि नास्तिकों की तरह उन्हें मन्दिर में ईश्वर के रूप तथा ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता। मन्दिर में श्रीविग्रह का प्रसन्न मुख भक्तों को दिव्य तथा आध्यात्मिक दिखता है और भगवान् के शरीर का अलंकरण भक्तों को अत्यन्त प्रिय लगता है। गुरु का कर्तव्य है कि वह मन्दिर में श्रीविग्रह को अलंकृत करने, मन्दिर को स्वच्छ करने तथा श्रीविग्रह की पूजा करने की विधि बताए। विष्णु मन्दिरों में अनेक विधि-विधानों का पालन किया जाता है, भक्तगण वहाँ जाते हैं और विग्रह का दर्शन करते हैं और स्वरूप का आनन्द उठाते हैं, क्योंकि सभी विग्रह वरदायक हैं। भक्तगण विग्रहों के समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं और अनेक बार तो विग्रह उत्तर भी देता है। किन्तु परमेश्वर से बात करने में सक्षम होने के लिए अत्यन्त उन्नत भक्त चाहिए। कभी-कभी भगवान् स्वप्न में सन्देश देते हैं। भक्त तथा विग्रह के मध्य विचारों का आदान-प्रदान नास्तिकों की समझ के बाहर होता है, किन्तु भक्त इसमें आनन्द लेते हैं। कपिल मुनि बता रहे हैं कि भक्तगण किस प्रकार विग्रह के अलंकृत शरीर तथा मुखमंडल का दर्शन करते हैं और भक्ति में उनसे बातें करते हैं।

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-

विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।

हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-

रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तैः—उन रूपों से; दर्शनीय—मोहक; अवयवैः—अंगों-प्रत्यंगों से; उदार—उदार; विलास—लीलाएँ; हास—मुसकान; ईक्षित—चितवन; वाम—मनोहर; सूक्तैः—आनन्दायक शब्दों से; हत—मोहित; आत्मनः—मन; हत—मोहित; प्राणान्—इन्द्रियाँ; च—तथा; भक्तिः—भक्ति; अनिच्छतः—न चाहते हुए; मे—मेरा; गतिम्—धाम; अण्वीम्—सूक्ष्म; प्रयुङ्क्ते—प्राप्त करता है।

भगवान् के मुसकाते तथा आकर्षक स्वरूप को देखकर तथा उनके अत्यन्त मोहक शब्दों को सुनकर शुद्ध भक्त अपनी अन्य समस्त चेतना खो बैठते हैं। उनकी इन्द्रियाँ अन्य समस्त कार्यों से मुक्त होकर भक्ति में तल्लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अनिच्छित ही सही उसे अनायास मुक्तिप्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ। कनिष्ठ श्रेणी तक के भक्त मुक्त हो जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि ज्ञान न होने पर भी मन्दिर में विग्रह का अलंकरण देखकर भक्त उसी के ध्यान में तल्लीन होकर अन्य समस्त चेतना खो देता है। इस तरह मात्र कृष्णचेतना में अपने को स्थिर करते हुए और इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर मनुष्य अनजाने ही मुक्त हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है। केवल शास्त्रानुमोदित अमिश्रित भक्ति करने से मनुष्य ब्रह्म समान होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है : *ब्रह्मभूयाय कल्पते*। इसका आशय यह हुआ कि जीव अपनी आदि अवस्था में ब्रह्म है, क्योंकि वह परब्रह्म का अंश है। किन्तु अपने इस वास्तविक स्वभाव को, कि वह भगवान् का शाश्वत दास है, भूल जाने से वह माया द्वारा मोहित हो जाता है। अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति की विस्मृति ही माया है। अन्यथा वह शाश्वत रूप से ब्रह्म है।

जब मनुष्य को अपनी स्थिति के प्रति सचेत रहने की शिक्षा दी जाती है, तो वह समझने लगता है कि वह भगवान् का दास है। 'ब्रह्म' आत्म-साक्षात्कार की दशा का सूचक है। यहाँ तक कि कनिष्ठ श्रेणी का वह भक्त भी जिसे परम सत्य का ज्ञान नहीं होता और जो केवल श्रद्धापूर्वक भगवान् को नमस्कार करता है, उनका चिन्तन करता है—मन्दिर में उनका दर्शन करता है और विग्रह में चढ़ाने के लिए फूल तथा फल लाता है, वह भी अनजाने ही मुक्त हो जाता है। *श्रद्धायान्विताः* अर्थात् अत्यन्त भक्तिपूर्वक भक्तगण विग्रह को सम्मान करते तथा सामग्री भेंट करते हैं। राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण तथा सीता-राम के विग्रह भक्तों के लिए

अत्यन्त मोहक होते हैं, अतः जब वे मन्दिर में उन्हें सज्जित रूप में देखते हैं, तो भगवान् के विचारों में मग्न हो जाते हैं। यही मुक्ति की दशा है। दूसरे शब्दों में, यहाँ इसकी पुष्टि हुई है कि निम्न श्रेणी का भक्त भी उनकी अपेक्षा दिव्य स्थिति में होता है, जो चिन्तन या अन्य साधनों से मुक्ति का प्रयास करते हैं। यहाँ तक कि शुकदेव गोस्वामी तथा चारों कुमारों जैसे निर्विशेषवादी भी मन्दिर में विग्रहों के सौन्दर्य से, भगवान् पर चढ़ी तुलसी की सुगंधि से मोहित होकर भक्त बन गये। यद्यपि वे मुक्त अवस्था में थे, किन्तु निर्विशेषवादी बने रहने की अपेक्षा वे भगवान् के सौंदर्य पर मोहित होकर भक्त बन गये।

यहाँ पर विलास शब्द उल्लेखनीय है। *विलास* से भगवान् के कार्यकलाप या लीलाओं का द्योतन होता है। मन्दिर पूजा के कार्यों में यह निश्चित है कि मनुष्य को मन्दिर में भगवान् को सजाधजा देखने ही नहीं जाना चाहिए, अपितु उसे *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* या ऐसे ही साहित्य का पाठ सुनना चाहिए जिनका मन्दिर में नियमित पाठ होता है। वृन्दावन में यह प्रथा है कि प्रत्येक मन्दिर में शास्त्रों का वाचन होता है। यहाँ तक कि निम्न श्रेणी के भक्तों को जिनके पास न तो साहित्यिक ज्ञान है, न ही जिन्हें *भागवत* या *भगवद्गीता* पढ़ने की फुरसत है, उन्हें भगवान् की लीलाओं का श्रवण करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार उनके मन निरन्तर भगवान् के विचारों में—उनके रूप, कार्यकलापों तथा उनके दिव्य स्वभाव में डूबे रहते हैं। कृष्णचेतना की यह अवस्था मुक्त अवस्था है। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने भक्ति सम्पन्न करने के लिए पाँच विधियों की संस्तुति की—(१) भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। (२) भक्तों की संगति तथा यथासम्भव उनकी सेवा करना (३) *श्रीमद्भागवत* सुनना (४) शृंगार किये गये मन्दिर तथा अर्चाविग्रह का दर्शन करना; और सम्भव हो तो; (५) वृन्दावन या मथुरा जैसे स्थान में रहना। इन पाँचों के द्वारा ही भक्त को परम सिद्धावस्था प्राप्त हो सकती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में और यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में की गई है। समस्त वैदिक साहित्य स्वीकार करता है कि निम्न कोटि का भी भक्त मुक्ति-लाभ कर सकता है।

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
 मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
 श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
 परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अथो—तब; विभूतिम्—ऐश्वर्य; मम—मेरे; मायाविनः—माया के स्वामी का; ताम्—उस; ऐश्वर्यम्—योग की सिद्धि को; अष्ट-अङ्गम्—आठ अंगों वाली; अनुप्रवृत्तम्—पालन करते हुए; श्रियम्—चमक-दमक; भागवतीम्—ईश्वर के साम्राज्य को; वा—अथवा; अस्पृहयन्ति—कामना नहीं करते; भद्राम्—शुभ; परस्य—परमेश्वर का; मे—मेरा; ते—वे भक्त; अश्नुवते—भोग करते हैं; तु—लेकिन; लोके—इस जीवन में।

इस प्रकार मेरे ही विचारों में निमग्न रहने के कारण भक्त को स्वर्गलोक में प्राप्य श्रेष्ठ वर (जिसमें सत्यलोक सम्मिलित है) की भी इच्छा नहीं रह जाती। उसमें योग से प्राप्त होने वाली अष्ट सिद्धियों की भी कामना नहीं रह जाती, न ही वह ईश्वर के धाम पहुँचना चाहता है। तथापि न चाहते हुए भी, इसी जीवन में भक्त प्रदान किए गये उन समस्त वरदानों को भोगता है।

तात्पर्य : माया द्वारा प्रदत्त विभूतियाँ कई प्रकार की होती हैं। हमें इसी लोक में विभिन्न प्रकार के भौतिक सुखोपभोग का अनुभव रहता है, किन्तु यदि कोई उच्चतर लोकों, यथा चन्द्रलोक, सूर्य लोक या इनसे भी ऊँचे महर्लोक, जनलोक या तपोलोक या कि अन्ततः ब्रह्मा द्वारा निवसित सर्वोच्चलोक, सत्यलोक, पहुँच जाय तो वहाँ भौतिक सुखोपभोग के लिए महती सम्भावनाएँ हैं। उदाहरणार्थ, वहाँ पर इस लोक की अपेक्षा जीवन कहीं अधिक दीर्घ है। कहा जाता है कि चन्द्रमा में जीवन अवधि ऐसी है कि हमारे छह मास वहाँ के एक दिन के तुल्य हैं। सर्वोच्चलोक में जीवन की अवधि की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि ब्रह्मा के बारह घंटे बड़े-से-बड़े गणितज्ञ के लिए अकल्पनीय हैं। ये सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति या माया के वर्णन हैं। इनके अतिरिक्त, अन्य ऐश्वर्य भी हैं, जिन्हें योगी अपनी योगशक्ति से प्राप्त कर सकते हैं। ये सभी भौतिक हैं। भक्त इन समस्त भौतिक भोगों की कामना नहीं करता, यद्यपि ये इच्छा मात्र से उन्हें सुलभ हो सकते हैं। भगवत्कृपा से भक्त इच्छा मात्र से आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर सकता है, किन्तु वास्तविक भक्त को इन

सबकी इच्छा नहीं होती। भगवान् चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा है कि मनुष्य को न तो भौतिक ऐश्वर्य या ख्याति की कामना करनी चाहिए न भौतिक सौन्दर्य का भोग करना चाहिए। उसे तो भगवान् की भक्ति में तल्लीन रहने की कामना करनी चाहिए भले ही उसे मुक्ति-लाभ न हो और अनन्त काल तक जन्म-मृत्यु के चक्र में रहना पड़े। किन्तु वास्तव में जो कृष्णभक्ति में लगा रहता है उसकी मुक्ति तो पहले से निश्चित है। भक्तगण स्वर्ग तथा वैकुण्ठलोक के समस्त लाभों का भोग करते हैं। यहाँ पर इसका विशिष्ट रूप से उल्लेख *भागवतीं भद्राम्* के रूप में हुआ है। वैकुण्ठलोक में सब कुछ नित्य रूप से शान्तिमय है, किन्तु तो भी शुद्ध भक्त वहाँ नहीं जाना चाहता। फिर भी उसे यह लाभ प्राप्त होता है, उसे अपने इस जीवन में भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् की सारी सुविधाएँ भोगने को उपलब्ध हो जाती हैं।

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे

नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च

सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कर्हिचित्—सदैव; मत्-पराः—मेरे भक्त; शान्त-रूपे—हे माता; नङ्क्ष्यन्ति—खो देंगे; नो—नहीं; मे—मेरा; अनिमिषः—समय; लेढि—नष्ट करता है; हेतिः—आयुध; येषाम्—जिनका; अहम्—मैं; प्रियः—प्यारा; आत्मा—स्व; सुतः—पुत्र; च—तथा; सखा—मित्र; गुरुः—शिक्षक; सुहृदः—शुभचिन्तक; दैवम्—देवता, विग्रह; इष्टम्—इष्ट, अभीष्ट।

भगवान् ने आगे कहा : हे माते, जो भक्त ऐसा दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं, वे उससे कभी वंचित नहीं होते। ऐसे ऐश्वर्य को न तो आयुध, न काल-परिवर्तन ही विनष्ट कर सकता है। चूँकि भक्तगण मुझे अपना मित्र, सम्बन्धी, पुत्र, शिक्षक, शुभचिन्तक तथा परमदेव मानते हैं, अतः किसी काल में भी उनसे यह ऐश्वर्य छीना नहीं जा सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से स्वर्गलोक तक, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक भी पहुँच सकता है, किन्तु जब उन पुण्यकर्मों का प्रभाव (फल) समाप्त हो जाता है, तो उसे इस पृथ्वी पर लौटकर नवीन जीवनकर्म प्रारम्भ करना पड़ता है। इस तरह भले ही कोई सुख-भोग करे तथा दीर्घ जीवन के लिए स्वर्गलोक चला

जाय, किन्तु यह स्थायी वास नहीं होता। किन्तु जहाँ तक भक्तों का प्रश्न है, उनकी सम्पत्ति— भक्ति की उपलब्धि तथा वैकुण्ठलोक का ऐश्वर्य—इस लोक में भी कभी नष्ट नहीं होती है। इस श्लोक में कपिलदेव अपनी माता को *शान्तरूपा* कहकर सम्बोधित करते हैं, जिससे सूचित होता है भक्तों का ऐश्वर्य स्थिर है, क्योंकि भक्तगण वैकुण्ठलोक में निरन्तर स्थित हैं जिसे *शान्तरूप* कहते हैं। इसमें सतोगुण रहता है, जिसे रजो तथा तमोगुण विचलित नहीं कर सकते। एकबार भगवद्भक्ति में स्थापित हो जाने पर मनुष्य के इस दिव्य सेवा पद को विनष्ट नहीं किया जा सकता, अपितु आनन्द तथा सेवा में अपार वृद्धि होती रहती है। वैकुण्ठलोक में कृष्णभक्ति में संलग्न भक्तों पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भौतिक जगत में काल के प्रभाव में सब कुछ विनष्ट हो जाता है, किन्तु वैकुण्ठलोक में न तो काल का प्रभाव पड़ता है न देवताओं का, क्योंकि वैकुण्ठलोक में एक भी देवता नहीं है। इस लोक में हमारे कार्यों का संचालन विभिन्न देवताओं द्वारा होता है, यहाँ तक कि जब हम अपने हाथ तथा पाँव हिलाते हैं, तो इनकी क्रिया देवताओं द्वारा संचालित होती है। किन्तु वैकुण्ठ लोक में न तो देवताओं का कोई प्रभाव है, न काल का। अतः विनाश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जब काल तत्त्व उपस्थित हो जाता है, तो विनाश निश्चित होता है, किन्तु जब काल तत्त्व—भूत, वर्तमान या भविष्य—नहीं रहता तो हर वस्तु शाश्वत होती है। अतः इस श्लोक में *न नङ्क्ष्यन्ति* शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे सूचित होता है कि दिव्य ऐश्वर्य का कभी विनाश नहीं होता।

विनष्ट न होने के कारण का भी उल्लेख हुआ है। भक्तगण परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय विभूति के रूप में स्वीकार करते हैं और उनसे नाना प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे परमेश्वर को सर्वप्रिय मित्र, सर्वप्रिय परिजन, सर्वप्रिय पुत्र, सर्वप्रिय शिक्षक, सर्वप्रिय शुभचिन्तक या सर्वप्रिय देव (विग्रह) के रूप में स्वीकार करते हैं। भगवान् सनातन हैं, अतः उनसे जो कोई सम्बन्ध बनाता है, वह भी सनातन होता है। यहाँ इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे सम्बन्धों को विनष्ट नहीं किया जा सकता, फलतः उन सम्बन्धों के ऐश्वर्य को भी नष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक जीव में किसी-न-किसी से प्रेम करने की प्रवृत्ति होती है। हम देखते

हैं कि जब किसी के कोई प्रिय नहीं होता तो वह अपने प्रेम को कुत्ता या बिल्ली जैसे पशुओं की ओर मोड़ देता है। इस तरह समस्त जीवों में प्रेम का शाश्वत लगाव प्रेम का विषय खोजने की ओर होता है। इस श्लोक से हम जान सकते हैं कि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अपनी प्रियतम वस्तु—मित्र, पुत्र, शिक्षक या शुभचिन्तक के रूप में प्रेम कर सकते हैं, इसमें न तो किसी प्रकार धोखा है और न ऐसे प्रेम का कोई अन्त है। हम भिन्न-भिन्न प्रकारों से भगवान् के साथ सम्बन्धों का आनन्द उठा सकते हैं। इस श्लोक की विशेष बात भगवान् को परम शिक्षक के रूप में ग्रहण करना है। *भगवद्गीता* का प्रवचन स्वयं भगवान् द्वारा हुआ और अर्जुन ने कृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें भी कृष्ण को ही परम गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

वास्तव में कृष्ण का अर्थ है कृष्ण तथा उनके विश्वस्त भक्तजन; कृष्ण अकेले नहीं हैं। जब हम कृष्ण कहते हैं, तो इससे उनका नाम, रूप, गुण, धाम तथा पार्षदों का अर्थ बोध देता है। कृष्ण कभी अकेले नहीं रहते, क्योंकि कृष्ण के भक्त निर्विशेषवादी नहीं होते। उदाहरणार्थ, राजा सदैव अपने सचिव, सेनापति, दास तथा ऐसे ही लोगों के संग रहता है। ज्योंही हम कृष्ण तथा उनके पार्षदों को अपना शिक्षक मान लेते हैं, तो ऐसा कोई कुप्रभाव नहीं जो हमारे ज्ञान का विनाश कर सके। भौतिक जगत में हमारे द्वारा अर्जित ज्ञान काल के प्रभाव से बदल सकता है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रवचन से प्राप्त होने वाले निष्कर्ष, जो हमें *भगवद्गीता* से मिलते हैं, कभी नहीं बदलते। *भगवद्गीता* की व्याख्या करने से कोई लाभ नहीं, वह तो शाश्वत है।

भगवान् श्रीकृष्ण को अपना श्रेष्ठ मित्र मानना चाहिए। वे कभी धोखा नहीं देंगे। वे सदैव मित्रवत् सम्मति प्रदान करेंगे और भक्तों की मित्रवत् रक्षा करेंगे। यदि श्रीकृष्ण को पुत्रवत् माना जाय तो वे कभी मरेंगे नहीं। इस संसार में हमारा अत्यन्त प्यारा पुत्र या बच्चा हो सकता है, किन्तु माता, पिता या जो भी उसके प्रति वत्सल है सदैव आशा लगाता है कि मेरा पुत्र मरे नहीं। किन्तु कृष्ण सचमुच कभी नहीं मरते। अतः जो कृष्ण को या भगवान् को अपना पुत्र

मान लेते हैं, वे अपने पुत्र से कभी रहित नहीं होते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भक्तों ने देव (विग्रह) को अपना पुत्र मान लिया। बंगाल में ऐसे अनेक उदाहरण हैं और भक्त की मृत्यु के बाद भी देव पिता के लिए श्राद्ध संस्कार सम्पन्न करता है। यह सम्बन्ध कभी विनष्ट नहीं होता। लोग तरह-तरह के देवताओं को पूजने के आदी हैं, लेकिन *भगवद्गीता* में ऐसी प्रवृत्ति की भर्त्सना की गई है, अतः मनुष्य में इतनी बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि वह भगवान् की ही पूजा उनके विविध रूपों में, यथा लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम तथा राधा-कृष्ण के रूप में करे। इससे कभी धोखा नहीं होगा। देवताओं की पूजा से भले ही किसी को स्वर्ग-लाभ हो जाय, किन्तु भौतिक जगत के प्रलय के समय देव तथा देव का आवास सब कुछ नष्ट हो जाएगा। किन्तु जो प को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को पूजता है, वह वैकुण्ठलोक को जाएगा जहाँ काल, विनाश या प्रलय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। निष्कर्ष यह निकला कि जो भक्त श्रीभगवान् को सब कुछ मान लेते हैं उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता।

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।

आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥ ३९ ॥

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।

भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इमम्—इस; लोकम्—संसार; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; अमुम्—वह संसार; आत्मानम्—सूक्ष्म देह; उभय—दोनों में; अयिनम्—भ्रमण करते; आत्मानम्—शरीर; अनु—के साथ-साथ; ये—जो; च—भी; इह—इस संसार में; ये—जो; रायः—सम्पत्ति; पशवः—पशु; गृहाः—घर; विसृज्य—त्याग कर; सर्वान्—सभी; अन्यान्—अन्य; च—तथा; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; विश्वतः—मुखम्—ब्रह्माण्डव्यापी भगवान् को; भजन्ति—पूजते हैं; अनन्यया—अनन्य भाव से; भक्त्या—भक्ति से; तान्—उनको; मृत्योः—मृत्यु के; अतिपारये—पार ले जाता हूँ।

इस प्रकार जो भक्त मुझे सर्वव्यापी, जगत् के स्वामी की अनन्य भाव से पूजा करता है, वह स्वर्ग जैसे उच्चतर लोकों में भेजे जाने अथवा इसी लोक में धन, सन्तति, पशु, घर अथवा शरीर से सम्बन्धित किसी भी वस्तु के साथ सुख पूर्वक रहने की समस्त कामनाओं को त्याग देता है। मैं उसे जन्म और मृत्यु के सागर के उस पार ले जाता हूँ।

तात्पर्य : इन दोनों श्लोकों में जिस तरह अनन्य भक्ति वर्णित है उसका अर्थ है परमेश्वर

को ही सब कुछ मानते हुए अपने आप को पूरी तरह से कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोग में लगा देना। चूँकि परमेश्वर में सब कुछ अन्तर्भूत है, अतः यदि कोई अनन्य श्रद्धा से भगवान् की पूजा करता है, तो उसे सारे ऐश्वर्य स्वतः प्राप्त हो जाते हैं और अन्य सारे कर्तव्य भी पूरे हो जाते हैं। भगवान् यहाँ पर वचन देते हैं कि वे अपने भक्त को जन्म तथा मृत्यु के उस पार ले जाते हैं। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि जो मनुष्य जन्म तथा मृत्यु से परे जाना चाहता है उसे कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ है कि उसे न तो इसी लोक में सुखी रहने या स्वर्गलोक भेजे जाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, न ही भौतिक सम्पत्ति, सन्तान, घर या पशु के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

यहाँ इसकी व्याख्या की गई है कि शुद्ध भक्त द्वारा किस तरह अप्रत्यक्षता में ही मुक्ति प्राप्त की जाती है और उसके क्या लक्षण हैं। बद्धजीव के लिए जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। एक तो वर्तमान जीवन तथा दूसरी अगले जीवन की तैयारी। यदि मैं सतोगुणी हूँ तो मैं स्वर्गलोक का भागी हूँ, यदि मैं रजोगुणी हूँ तो मैं ऐसे समाज में रहा आऊँगा जहाँ कर्म ही प्रधान है और यदि मैं तमोगुणी हूँ तो मैं पशु-जीवन या मानव-जीवन की निम्न अवस्था में उतार दिया जाऊँगा। किन्तु भक्त को न तो इस जीवन की और न अगले जीवन की कोई परवाह रहती है, क्योंकि वह किसी भी जीवन में न तो भौतिक सम्पत्ति की कामना करता है न जीवन की उच्च या निम्न अवस्था की। वह तो भगवान् से प्रार्थना करता है, “हे भगवान्, मुझे इसकी परवाह नहीं कि मैं कहाँ जन्म लूँ, किन्तु मुझे एक भक्त के घर में चींटी के रूप में ही सही जन्म लेने दें।” शुद्ध भक्त भगवान् से कभी भी इस भौतिक बंधन से मुक्ति की प्रार्थना नहीं करता है। शुद्ध भक्त अपने को मुक्ति के योग्य समझता ही नहीं। अपने विगत जीवन तथा दुष्ट कर्मों को ध्यान में रखते हुए वह सोचता है कि वह नरक के निम्नतम भाग में भेजे जाने के योग्य है। यदि मैं इस जन्म में भक्त बनना चाह रहा हूँ तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्वजन्मों में मैं शत प्रतिशत शुद्ध (पवित्र) था। ऐसा सम्भव नहीं। इसलिए भक्त हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति सचेत रहता है। भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण से ही कष्ट कम हो सकते हैं। जैसाकि

भगवद्गीता में कहा गया है, “मेरी शरण में आ जाओ, मैं समस्त पापकर्मों से तुम्हारी रक्षा करूँगा।” यह उनकी कृपा है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की है उसने पूर्वजन्म में बुरे कर्म नहीं किये। भक्त सदैव प्रार्थना करता है, “अपने बुरे कर्मों के लिए मैं बारम्बार जन्म लूँ, किन्तु मेरी एकमात्र प्रार्थना है कि मैं आपकी सेवा करना न भूलूँ।” भक्त में इतना मनोबल होता है और वह भगवान् से निवदेन करता है, “मैं बार-बार जन्म ग्रहण करता रहूँ, किन्तु मैं शुद्ध भक्त के घर में जन्म लूँ जिससे मैं अपने को सुधारने का अवसर पा सकूँ।”

शुद्ध भक्त कभी इच्छुक नहीं रहता कि अगले जन्म में वह ऊपर उठे। वह पहले ही इस प्रकार की आशा त्याग चुका होता है। मनुष्य चाहे जिस जीवन में जन्म ले—गृहस्थ के रूप में या पशु के रूप में ही सही, उसे सन्तान, साधन या कुछ न कुछ सम्पत्ति चाहिए, किन्तु भक्त को कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं रहती। उसे भगवत्कृपा से जो भी प्राप्त हो सकता है उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह न तो अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने या अपने बच्चों की शिक्षा सुधारने के लिए रंचमात्र भी मोह रखता है। वह निकम्मा नहीं होता, वह आज्ञाकारी होता है, किन्तु वह क्षणिक घरेलू या सामाजिक जीवन के उत्थान में अधिक समय व्यय नहीं करता। वह पूर्णतया भगवान् की सेवा में लगा रहता है और अन्य कार्यों में उतना ही समय लगाता है जितना कि अनिवार्य होता है (*यथार्थम् उपयुञ्जतः*)। ऐसा भक्त इसकी चिन्ता नहीं करता कि अगले जीवन में या इसी जीवन में क्या होने जा रहा है। यहाँ तक कि वह अपने परिवार, लड़के-बच्चों या समाज की भी परवाह नहीं करता। वह कृष्णभक्ति में रह कर भगवान् की सेवा में तल्लीन रहता है। भगवद्गीता में कहा गया है कि भक्त के जाने बिना ही भगवान् उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने दिव्य धाम में भेज देते हैं। इस शरीर को त्यागने के बाद वह दूसरी माता के गर्भ में प्रवेश नहीं करता। मृत्यु के पश्चात् सामान्य जीव को उसके कर्म के अनुसार अन्य प्रकार का शरीर धारण करने के लिए अन्य माता के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। किन्तु भक्त तो तुरन्त ही भगवान् के पास रहने के लिए वैकुण्ठ में भेज दिया

जाता है। यह भगवान् की विशेष कृपा है। यह किस प्रकार सम्भव है, इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में की गई है। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् जो भी चाहें कर सकते हैं। वे समस्त पापकर्मों को क्षमा कर सकते हैं, वे किसी भी व्यक्ति को वैकुण्ठलोक भेज सकते हैं। यह उन भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है, जो शुद्ध भक्तों के अनुकूल रहते हैं।

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।

आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यत्र—दूसरा; मत्—मेरे सिवा; भगवतः—श्रीभगवान्; प्रधान-पुरुष-ईश्वरात्—ईश्वर जो प्रकृति तथा पुरुष दोनों है; आत्मनः—आत्मा; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों में; भयम्—भय; तीव्रम्—विकट; निवर्तते—छुटकारा पाता है।

यदि कोई मुझको छोड़कर अन्य की शरण ग्रहण करता है, तो वह जन्म तथा मृत्यु के विकट भय से कभी छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि मैं सर्वशक्तिमान, परमेश्वर अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, समस्त सृष्टि का आदि स्रोत तथा समस्त आत्माओं का भी परमात्मा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया गया है कि परमेश्वर का शुद्ध भक्त बने बिना जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं मिल पाता। कहा गया है—*हरिं बिना न सृतिं तरन्ति*। जन्म-मृत्यु के चक्र को तब तक पार नहीं किया जा सकता जब तक श्रीभगवान् अनुकूल न हों। इसी विचारधारा की पुष्टि यहाँ हुई है। कोई चाहे तो अपने अपूर्ण मानसिक चिन्तन से परम सत्य को जानने की पद्धति अपनावे या योगक्रिया द्वारा स्व का बोध करने का यत्न करे। किन्तु चाहे वह जो भी करे, जब तक वह श्रीभगवान् को पूरी तरह आत्मसमर्पण नहीं कर देता, तब तक कोई भी विधि उसे मुक्ति नहीं दिला सकती। कोई यह पूछ सकता है कि क्या जो लोग दृढ़तापूर्वक विधि-विधानों का पालन करते हुए तपस्या करते हैं, वह सब व्यर्थ है? इसका उत्तर *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में मिलता है—*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः*। जब श्रीकृष्ण देवकी के गर्भ में थे तो ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना कि, “हे कमलनयन भगवान्! ऐसे भी लोग हैं, जो इस विचार से फूले रहते हैं कि वे मुक्त हो चुके हैं या ईश्वर से

उनका तादात्म्य हो चुका है या वे ईश्वर हो गये हैं, किन्तु ऐसा सोचते हुए भी उनका ज्ञान प्रशंसनीय नहीं है। वे अल्पज्ञ हैं।” यह कहा गया है कि उनकी बुद्धि, चाहे उच्च हो या निम्न, शुद्ध भी नहीं होती। शुद्ध बुद्धि होने पर मनुष्य आत्मसमर्पण के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकता। अतः *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि अत्यन्त विज्ञ पुरुष में ही शुद्ध बुद्धि का उदय होता है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह अनेकानेक जन्मों के बाद परमेश्वर की शरण में जाता है।

शरण में गये बिना किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। *भगवत* का कथन है, “जो लोग अपने आपको किसी भक्तिविहीन विधान से मुक्त मानकर गर्वित रहते हैं, वे शिष्ट अथवा विमल बुद्धि वाले नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने अभी तक आपकी शरण नहीं ग्रहण की। वे समस्त प्रकार के संयम एवं तपस्या का पालन करने के बावजूद, अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार के निकट पहुँचे बिना ही सोचते हैं कि वे ब्रह्मतेज में स्थित हैं, किन्तु वास्तव में वे भौतिक कर्मों में आ गिरते हैं, क्योंकि उनके कर्म दिव्य नहीं होते।” मनुष्य को केवल इस कोरे ज्ञान से प्रसन्न नहीं हो जाना चाहिए कि वह ब्रह्म है। उसे परब्रह्म की सेवा में लगना चाहिए; वही भक्ति है। ब्रह्म का कार्य है कि वह परब्रह्म की सेवा करे। कहा जाता है कि ब्रह्म बने बिना ब्रह्म की सेवा नहीं की जा सकती। परब्रह्म तो श्रीभगवान् हैं और जीवात्मा भी ब्रह्म है। इस बोध के बिना कि मनुष्य ब्रह्म, अर्थात् आत्मा, अर्थात् भगवान् का नित्य दास है, यदि कोई इतना ही सोचता है कि वह ब्रह्म है, तो उसका यह बोध केवल सैद्धान्तिक है। अनुभव करने के साथ ही साथ उसे भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाना होता है, तभी वह ब्रह्मपद में स्थित रह सकता है अन्यथा वह नीचे गिर जाता है।

भागवत का कथन है कि अभक्त लोग श्रीभगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति की उपेक्षा करते हैं, अतः उनकी बुद्धि संकीर्ण होती है, जिससे ये लोग नीचे गिर जाते हैं। जीवात्मा को कुछ न कुछ कर्म करना चाहिए। यदि वह दिव्य सेवाकर्म नहीं करता तो वह भौतिक कर्म में आ गिरता है। ज्योंही वह भौतिक कर्मों में आ गिरता है, तो जन्म-मरण के चक्र से उसे

छुटकारा कोई नहीं दिला सकता। यहाँ पर भगवान् कपिल ने कहा है, “मेरी कृपा के बिना” (*नान्यत्र मद् भगवतः*)। यहाँ पर प्रभु को भगवान् कहा गया है, जिससे संकेत मिलता है कि वे सर्व ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं, अतः वे मनुष्य को जन्म तथा मरण के चक्र से उद्धार करने में सर्वथा सक्षम हैं। वे प्रधान भी कहलाते हैं, क्योंकि वे परम पुरुष हैं। वे सबों पर समभाव रखते हैं, किन्तु जो उनकी शरण में जाता है उस पर विशेष रूप से अनुकूल रहते हैं। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि भगवान् हर एक के लिए एक समान हैं, न तो कोई उनका शत्रु है और न मित्र। किन्तु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वे उसके ऊपर उनका विशेष झुकाव हो जाता है। मात्र उनकी शरण में जाकर मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर निकल सकता है अन्यथा वह इस चक्र में अनेकानेक जन्मों तक पड़ा रहता है और मुक्ति के लिए अनेक बार अन्य विधियों का सहारा लेता है।

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।

वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

मत्-भयात्—मेरे भय से; वाति—बहती है; वातः—वायु; अयम्—यह; सूर्यः—सूर्य; तपति—चमकता है; मत्-भयात्—मेरे भय से; वर्षति—बरसता है; इन्द्रः—इन्द्र; दहति—जलती है; अग्निः—अग्नि; मृत्युः—मृत्यु; चरति—जाती है; मत्-भयात्—मेरे भय से।

यह मेरी श्रेष्ठता है कि मेरे ही भय से हवा बहती है, मेरे ही भय से सूर्य चमकता है और मेघों का राजा इन्द्र मेरे ही भय से वर्षा करता है। मेरे ही भय से अग्नि जलती है और मेरे ही भय से मृत्यु इतनी जानें लेती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में श्रीभगवान् कृष्ण कहते हैं कि उनकी अध्यक्षता के कारण ही समस्त कार्यों में प्राकृतिक नियम ठीक से काम रहे हैं। कोई यह न सोचे कि प्रकृति बिना अध्यक्षता के स्वतः कार्य कर रही है। वैदिक ग्रन्थ कहते हैं कि बादल इन्द्रदेव द्वारा नियन्त्रित होते हैं, ऊष्मा का वितरण सूर्यदेव द्वारा होता है, शीतल चाँदनी चन्द्र द्वारा वितरित होती है और वायुदेव की व्यवस्था के अन्तर्गत वायु प्रवाहित होती है। किन्तु इन समस्त देवों के ऊपर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रधान व्यक्ति हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। देवता भी सामान्य

जीवात्माएँ हैं, किन्तु अपनी आज्ञाकारिता के कारण—अपनी भक्तिमयी प्रवृत्ति के कारण—वे ऐसे पदों पर नियुक्त किये गये हैं। ये विभिन्न देवता या अधीक्षक, यथा चन्द्र, वरुण, वायु *अधिकारी देवता* कहलाते हैं। देवता विभागीय अध्यक्षों की भाँति होते हैं। परमेश्वर की सत्ता में केवल एक लोक या दो-तीन लोक नहीं, अपितु लाखों लोक तथा लाखों ब्रह्माण्ड होते हैं। भगवान् की सत्ता व्यापक होती है और उन्हें सहायकों की आवश्यकता होती है। देवतागण उनके शरीर के अंग माने जाते हैं। ऐसा वैदिक साहित्य में वर्णन मिलता है। ऐसी परिस्थितियों में सूर्यदेव, चन्द्रदेव, अग्निदेव तथा वायुदेव परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*। प्राकृतिक नियमों का कार्यान्वयन उनकी अध्यक्षता में होता है। पृष्ठभूमि में उनके रहने के कारण प्रत्येक वस्तु नियत समय से तथा नियमित ढंग से सम्पन्न होती है।

जो मनुष्य श्रीभगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है उसकी रक्षा अन्य समस्त प्रभावों से की जाती है। तब वह न किसी की सेवा करता है न किसी का कृतज्ञ रहता है। निस्सन्देह वह किसी की अवज्ञा नहीं करता, किन्तु उसकी सारी विचारशक्ति भगवान् की सेवा में लगी रहती है। भगवान् कपिल का यह कथन कि उनके ही आदेश से वायु बह रही है, अग्नि जल रही है तथा सूर्य तपता है भावावेश में नहीं कहा गया है। निर्विशेषवादी कह सकते हैं कि *भागवत* के भक्त किसी को भगवान् बनाकर उसे उनके गुण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु न तो यह कल्पना है और न ईश्वर के नाम पर कृत्रिम शक्ति का थोपा जाना है। वेदों में कहा गया है—*भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः*—परमेश्वर के भय से ही वायुदेव तथा सूर्यदेव कार्य करते हैं। *भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः*—अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु भी उन्हीं के निर्देशन में कार्य करते हैं। ये वेदों के कथन हैं।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।

क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—तथा वैराग्य से; युक्तेन—सज्जित; भक्ति-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; योगिनः—योगीजन;
क्षेमाय—शाश्वत लाभ के लिए; पाद-मूलम्—चरणों में; मे—मेरे; प्रविशन्ति—शरण ग्रहण करते हैं; अकुतः—
भयम्—निडर, निर्भय।

योगीजन दिव्य ज्ञान तथा त्याग से युक्त होकर एवं अपने शाश्वत लाभ के लिए मेरे चरणकमलों में शरण लेते हैं और चूंकि मैं भगवान् हूँ, अतः वे भयमुक्त होकर भगवद्धाम में प्रवेश पाने के लिए पात्र हो जाते हैं।

तात्पर्य : जो इस संसार के बन्धन से मुक्त होकर भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है, वही वास्तव में योगी है। यहाँ पर युक्तेन भक्तियोगेन शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। जो योगी भक्तियोग में लगे रहते हैं, वे उच्चकोटि के योगी हैं। जैसाकि भगवद्गीता में उल्लेख है, उच्चकोटि के योगी वे हैं, जो निरन्तर श्रीभगवान् कृष्ण का चिन्तन करते रहते हैं। ये योगी ज्ञान तथा वैराग्य से रहित नहीं होते। भक्तियोगी होने का तात्पर्य है स्वतः ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त करना। यह भक्तियोग का स्वतः फल होता है। भागवत के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति वासुदेव कृष्ण की भक्ति करता है, वह पूर्ण दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त होता है और इन उपलब्धियों का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वे अहैतुकी—बिना कारण—मिलती हैं। यहाँ तक कि निरक्षर व्यक्ति को भी शास्त्रों का दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह भक्ति में लगा रहता है। इसका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। जिस किसी की परमेश्वर तथा गुरु में पूर्ण श्रद्धा होती है, उसे वैदिक साहित्य का पूर्ण सार प्रकट हो जाता है। इसे पृथक् से खोजने की उसको आवश्यकता नहीं पड़ती। जो योगी भक्तियोग में लग जाते हैं, वे ज्ञान तथा वैराग्य से पूर्ण होते हैं। यदि ज्ञान तथा वैराग्य का अभाव हो तो यह समझना चाहिए कि वह भक्तिमय सेवा से पूर्ण नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई मनुष्य तब तक स्वर्गलोक में—या तो भगवान् के निर्गुण ब्रह्मज्योति तेज में या उस ब्रह्म तेज के भीतर वैकुण्ठलोक में—प्रवेश नहीं कर सकता जब तक वह परमेश्वर के चरणकमलों की शरण में नहीं चला जाता। शरणागत जीव अकुतोभय कहलाते हैं। वे संशयहीन तथा निर्भय होते हैं और वैकुण्ठलोक में उनका प्रवेश निश्चित है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

एतावान् एव—इतना ही; लोके अस्मिन्—इस संसार में; पुंसां—मनुष्यों का; निःश्रेयस—जीवन की अन्तिम सिद्धि की; उदयः—प्राप्ति; तीव्रेण—तीव्र; भक्ति-योगेन—भक्ति के अभ्यास से; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्पितम्—लगे हुए; स्थिरम्—स्थिर।

अतः जिन व्यक्तियों के मन भगवान् में स्थिर हैं, वे भक्ति का तीव्र अभ्यास करते हैं।

जीवन की अन्तिम सिद्धि प्राप्त करने का यही एकमात्र साधन है।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त *मनो मय्यर्पितम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अर्थ है “मुझमें लगे हुए मन।” मनुष्य को भगवान् कृष्ण या उनके अवतार के चरणकमलों पर अपना मन लगाना चाहिए। स्थिर भाव से उनमें लगे रहना ही मुक्ति का साधन है। अम्बरीष महाराज इसके उदाहरण हैं। उन्होंने अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में लगाया, वे भगवान् की ही लीलाओं का कथन करते, वे भगवान् पर चढ़े हुए पुष्पों तथा तुलसी को ही सूँघते, वे केवल भगवान् के मन्दिर तक जाते, अपने हाथों से मन्दिर बुहारते, अपनी जीभ का उपयोग भगवान् को अर्पित भोजन के चखने में करते और कानों का उपयोग भगवान् की लीलाओं के सुनने में करते। इस प्रकार उनकी सभी इन्द्रियाँ व्यस्त रहतीं। सर्वप्रथम मन को भगवान् के चरणकमलों में क्रमशः तथा सहज भाव से लगाना चाहिए। चूँकि मन इन्द्रियों का स्वामी है, अतः मन के व्यस्त रहने पर सारी इन्द्रियाँ व्यस्त रहेंगी। यही भक्तियोग है। योग का अर्थ है इन्द्रियों को वश में करना, इन्द्रियों को सही अर्थ में वश में लाना कठिन है, वे सदैव चलायमान रहती हैं। यही हाल एक बच्चे का होता है—उसे कब तक शान्तिपूर्वक बैठाये रखा जा सकता है? यह सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि अर्जुन को कहना पड़ा—*चञ्चलं हि मनः कृष्ण—मन सदैव चलायमान रहता है।* सबसे अच्छा मार्ग यही है कि मन को भगवान् के चरणकमलों में लगा दिया जाय। *मनो मय्यर्पितं स्थिरम्।* यदि कोई गम्भीरतापूर्वक कृष्णभक्ति में लग जाय तो यही उच्चतम सिद्धावस्था है। समस्त कृष्णभावनाभावित कर्म मानवीय जीव की उच्चतम सिद्धावस्था में होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “भक्तियोग की महिमा” नामक

पच्चीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।